उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो ।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—४ | मार्च—१९८५ | अंक—३

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा । निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा' ॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सह संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	२०० रु०
षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें ।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

विषैले साँपों से भरे घर में रहनेवाला व्यक्ति जैसे सदा सावधान रहता है, वैसे ही संसार में मनुष्यों को काम-कांचन के मोहक आकर्षण से सदैव सावधान रहना चाहिए ।

(२)

एक बार भगवान् का नाम सुनते ही जिसके शरीर में रोमांच उत्पन्न होता है और आँखों से प्रेमाश्रु की धार बहने लग जाती है, उसका यह निश्चित ही आखरी जन्म है ।

(३)

घड़े में पानी भरकर छींके पर टाँग दो तो कुछ ही दिनों में पानी सूख जाता है; परन्तु घड़े को यदि गंगा में डुबाए रखो तो पानी कभी नहीं सूखता । इसी भाँति जो एक-दो दिन प्रेम-भक्ति करके ही निश्चिन्त रहता है, उसकी भक्ति दो दिन में छींके पर टँगे घड़े के पानी की तरह सूख जाती है । परन्तु जो ईश्वर के प्रेम में नित्य डूबा रहता है, उसकी प्रेम-भक्ति कभी नहीं सूखती ।

(४)

जिस प्रकार बच्चे पैसे या खिलौने के लिए माँ से जिद करते हुए मचलते हैं, कभी रोते और कभी उसे मारते भी हैं, इसी प्रकार, जो ईश्वर को अपने से भी अपना जानकर उनके दर्शन पाने के लिए सरल बालक की तरह व्याकुल अन्तःकरण से रुदन करता है, ईश्वर उसे दर्शन दिए बिना नहीं रह सकते ।

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

—श्रीसारदातनय
नागपुर।

(१)

राजत श्रीरामकृष्ण, नित्यमुक्त विगततृष्ण।
चिद्‌घन आनन्दमूर्ति, अविचल अविनाशी॥
प्रेमपूर्ण विमलवदन, आहैतुक कृपासदन।
कनक-काम-लेश शून्य, हरत तिमिर राशि॥
सुखनिधान मोक्षधाम, लीलामय पूर्णकाम।
निरुपम नयनाभिराम, भक्तचित-विलासी॥
करुणाघन अति उदार, नाशत भवदुःख भार।
प्रकटत प्रेमावतार, धन्य जगतवासी॥

(२)

अब तो (प्रभु) सुन लो पुकार।
मैं कबसे बैठा आस लगाये, दो खोल द्वार॥

अब तक भव में बहता आया,
शोक-ताप-दुख सहता आया।
सुन के महिमा आया दर पे, हर लो न भार॥

अमिय वचन सुन नाथ तुम्हारा,
निराधार को मिला सहारा।
आस जगी मन में, भागा सब भ्रम-अँधकार॥

ठाकुर अब तुम मुख मत मोड़ो,
शरणागत का हाथ न छोड़ो।
जन्म-मरण के बंधन तोड़ो; बन के उदार॥

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज

रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष ऋतम्भरा प्रज्ञा सम्पन्न श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज गत बुधवार, १३ मार्च, १९८५ को ३.१७ बजे अपराह्न श्रीरामकृष्ण लोकवासी हो गये। वे ९३ वर्ष के थे। उनका जन्म मद्रास में सन् १८९२ ई० में हुआ था।

रामकृष्ण-विवेकानन्द भावान्दोलन के कर्मठ ऋत्विक एवं भारतीय आध्यात्मिक-जगत् के एक विलक्षण-विशिष्ट संन्यासी स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज का सम्पूर्ण जीवन अखंड ज्ञान, अक्षय प्रेम एवं अनासक्त कर्म का जीवन था, लोक-मंगल के लिए समर्पित सेवा का जीवन था, रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के प्रचार-प्रसार के लिए सर्वांशतः उत्सर्ग का जीवन था। विद्या और विनय, ब्रह्मतेज और तप, त्याग और अनुराग तथा कर्म और धर्म के वे सचल तीर्थ-राज थे।

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने सन् १९१६ ई० में रामकृष्ण मिशन में ब्रह्मचारी के रूप में प्रवेश किया। वे श्री माँ सारदा देवी के शिष्य थे। उन्हें श्रीरामकृष्ण के अनेक अंतरंग शिष्यों के सम्पर्क में रहने तथा श्रीरामकृष्ण द्वारा उन शिष्यों को प्रदत्त आधिकारिक परम्पराओं को स्वायत्त करने के सुअवसर भी प्राप्त हुए थे।

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन की उल्लेख्य सेवाएँ कीं। वे रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव के महत्वपूर्ण प्रकाशन प्रतिष्ठान, अद्वैत आश्रम के प्रबन्धक थे तथा १९२७ ई० से उसके अध्यक्ष थे। सन् १९३८ ई० में वे रामकृष्ण मठ एवं मिशन के सहायक सचिव तथा सन् १९६१ ई० में महासचिव बनाये गये। सन् १९६६ ई० से अपने ब्रह्मलीन होने के क्षण तक वे रामकृष्ण मठ एवं मिशन के महाध्यक्ष पद पर सक्रियतापूर्वक समासीन रहे।

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज के अध्यक्ष-काल में ही, लगभग ५८ वर्षों के उपरान्त सन् १९८० ई० में रामकृष्ण मठ एवं मिशन का द्वितीय महाधिवेशन सम्पन्न हुआ जो कई दृष्टियों से ऐतिहासिक था। देश के युवकों, पिछड़ों, हरिजनों, स्त्रियों एवं गरीबों के कल्याण के लिए उन्होंने कई महत्वपूर्ण कार्यक्रमों का शुभारम्भ किया। राष्ट्र के सर्वाङ्गीण विकास के लिए उनके हृदय में सदैव एक आकुल तड़प रहा करती थी। वे राष्ट्रीय-चेतना के एक सबल स्तंभ थे।

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने कई महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन किया था। इनमें श्रीमद्-भगवद्गीता का श्रीधर की टीका के साथ सरलतम शब्दों में अँग्रेजी अनुवाद तथा ब्रह्मसूत्र पर दो मौलिक ग्रंथ प्रमुख हैं। इनमें श्रीशंकराचार्य एवं श्रीरामानुजाचार्य के भाष्यों को सार रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'स्पिरिच्युअल आइडियल फॉर द प्रेजेन्ट एज' उनके कुछ महत्वपूर्ण व्याख्यानों का संकलन-ग्रंथ है। 'मातृभूमि के प्रति हमारा कर्तव्य' उनके कुछ भाषणों का बंगला एवं अँग्रेजी से हिन्दी में अनूदित ग्रंथ है जिसमें उनकी अंतर्दृष्टि एवं दूरदृष्टि दोनों का परिचय हमें मिलता है।

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने इसी २१ फरवरी (भगवान् श्रीरामकृष्ण के १५०वें जन्म-महोत्सव के दिन) को अपनी अस्वस्थता के बावजूद प्रायः ३५ ब्रह्मचारियों (जिनमें एक अमरीकन भी थे) को संन्यास में एवं ४१ युवकों को ब्रह्मचर्य में दीक्षित किया था। संभवतः श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावान्दोलन और विश्व-मानवता के प्रति यह उनकी अंतिम पार्थिव सेवा थी।

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज, जिन्हें हम सब आदर और प्रेम से प्रेसिडेन्ट महाराज कहा करते थे, से अभी हमें और हमारे देश को अनेक आशाएँ थीं। वे धर्म, अध्यात्म एवं जन-चेतना के आकाश के एक देदीप्यमान नक्षत्र थे। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच शेष नहीं रहा किन्तु, हमें विश्वास है—पूरा विश्वास है कि उनकी आत्मा की अखण्ड ज्योति आज के दिशाहारा-पथभ्रान्त मानव समाज को, निविड़-तिमिर में, चिरकाल तक पथ-प्रदर्शन करती रहेगी।

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव, श्रीमां सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्दजी स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज की आत्मा को अक्षय शान्ति प्रदान करें—यही उनसे विवेक शिखा-परिवार की आन्तरिक प्रार्थना है।

सम्पादकीय सम्बोधन

रामकृष्ण के दास हम

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

उस दिन इस नगर में सवेरे से एक विशेष चहल-पहल थी, एक विशेष चेतना-तरंग जैसे लहराने लगी थी। रामकृष्ण मिशन के एक तरुण, तेजस्वी एवं प्रज्ञावान संन्यासी का यहाँ आगमन हुआ था। उसी दिन शाम को उन्होंने अपने व्याख्यान से श्रोताओं के चित्त को आन्दोलित कर दिया था। फिर दूसरे दिन उन्होंने नगर के दो कॉलेजों में अपने ओजस्वी एवं विचारोत्तेजक व्याख्यानों से युवकों में एक विलक्षण प्रेरणा भर दी थी। कई युवकों ने अपने जीवन को लोक-सेवा में लगाने और त्याग का व्रत लेने की इच्छा व्यक्त की थी। हम सब बड़े उल्लसित थे। लगता था, कुछ युवक तो सन्मार्ग की ओर अग्रसर होने को तत्पर हैं। यही क्या कम है! लेकिन थोड़े ही दिनों के बाद उनका उत्साह मंद होता हुआ दीख पड़ा। वे फिर अपनी पुरानी राह पर चलते दिखाई पड़ने लगे। क्या कारण है इसका? किसी तल-स्पर्शी उत्तेजक विचारों के झंझावात से हमारे भीतर की चेतना की आग पर पड़ी हुई राख की मोटी पड़तें कुछ झड़ जाती हैं और हमारी चिनगारी फूट पड़ती है। हम क्षण भर के लिए तमस् से रजस् और सत्व की ओर उन्मुख हो जाते हैं, लेकिन संकल्प की दृढ़ता के अभाव में फिर हमारी आग राख से ढँक जाती है और फिर हम एक प्रकार की मूर्च्छा की पूर्व-स्थिति में आ जाते हैं।

संकल्प की दृढ़ता के लिए हमें किसी आदर्श व्यक्ति और उनके आदर्शों एवं सिद्धान्तों का चिन्तन-अनुशीलन कर उन्हें सबल रूप से पकड़ लेना होगा। फिर उन आदर्श-पुरुष के व्यक्तित्व एवं विचारों को अपने जीवन में ढालकर एक नयी जिन्दगी, एक नया जीवन जीने की यात्रा शुरु करनी होगी। वर्त्तमान समय में श्री रामकृष्ण से बढ़कर कोई दूसरा आदर्श पुरुष हमारे समक्ष नहीं है। २६ अप्रैल १८९६ को अपने एक पत्र में स्वामी विवेकानन्द ने बड़ी गंभीरता से लिखा था—"यदि कोई श्रीरामकृष्णदेव को अवतार आदि स्वीकार करे तो अच्छा है, यदि न करे तो भी ठीक ही है। परन्तु सच बात तो यह है कि चरित्र के विषय में श्रीरामकृष्णदेव सबसे आगे बढ़े हुए हैं। उनके पहले जो अवतारी महापुरुष हुए हैं उनसे वे अधिक उदार, अधिक मौलिक और अधिक उन्नतिशील थे। अर्थात् प्राचीन आचार्य एकदेशीय थे, परन्तु इस नये अवतार या आचार्य की शिक्षा यह है कि योग, भक्ति, ज्ञान और कर्म के सर्वोच्च भावों का सम्मिलन होना चाहिए जिससे एक नये समाज का निर्माण हो सके।" प्राचीन आचार्यों की महिमा स्वीकारते हुए इसी पत्र में स्वामीजी कहते हैं—"प्राचीन आचार्य निःसंदेह अच्छे थे परन्तु यह इस युग का नया धर्म है—अर्थात् योग, ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय—आयु और लिंग भेद के बिना, पतित से पतित तक में ज्ञान और भक्ति का प्रचार। पहले के अवतार ठीक थे, परन्तु श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व में उनका समन्वय हो गया है।" (पृ० ४४१)

श्रीरामकृष्ण की महिमा की चर्चा करते हुए स्वामीजी ने अपने गुरु भाई स्वामी ब्रह्मानन्द को सम्बोधित एक पत्र में लिखा था—"जिस दिन श्रीरामकृष्णदेव ने जन्म लिया है, उसी दिन से Modern India (वर्त्तमान भारत) तथा सत्ययुग का आविर्भाव हुआ है। तुम लोग सत्ययुग का उद्घाटन करो और इसी विश्वास को लेकर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होओ।" (पृ० ४०३-४)

जो लोग श्रीरामकृष्ण की महिमा पर अविश्वास

करते हैं, मानो उन्हें ही फटकारते हुए स्वामीजी प्रामाणिक रूप से दृढ़ स्वर में कहते हैं—"हे भाई,··· जिन्होंने हमारी आत्मा की आँखें खोल दीं, जिन्हें रात-दिन सजीव ईश्वर दीखा, जिनकी पवित्रता, प्रेम और ऐश्वर्य का राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, चैतन्य आदि में कणमात्र प्रकाश है, उनके निकट नमक हरामी ?··· बुद्ध, कृष्ण, आदि का तीन-चौथाई हिस्सा कपोल कल्पना के सिवा और क्या है ?···बुद्ध, कृष्ण, ईसा पैदा हुए थे या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। और साक्षात् भगवान् को देखकर भी तुम्हें कभी-कभी मतिभ्रम होता है ! तुम लोगों के जीवन को धिक्कार है ! मैं और क्या कहूँ ? देश-विदेश में नास्तिक-पाखण्डी भी उनकी मूर्ति की पूजा करते हैं, और तुम लोगों को समय-समय पर मतिभ्रम होता है ! तुम लोगों का जन्म धन्य है, कुल धन्य है, देश धन्य है कि उनके पैरों की धूलि मिली।" (पृ० ३५७)

हम तमाम लोग, जो श्रीरामकृष्ण के पाद-पद्मों में अपनी श्रद्धा, भक्ति और प्रीति निवेदित करते हैं, आज उनके ऊपर एक विशेष दायित्व आ गया है। श्रीरामकृष्ण न केवल मन्दिरों में हैं, न मात्र हमारे उपासना गृहों में। वे हमारे अन्तर में भी हैं और बाहर भी, प्रत्येक जड़-चेतन में। अतः हम जो अपने को श्रीरामकृष्ण का दास समझते हैं उनके ऊपर दुहरा दायित्व आ गया है। पहला तो यह कि हमें स्वयं अपने में श्रीरामकृष्ण के स्वरूप को ढालना होगा और दूसरा यह कि अपने जीवन भर श्रीरामकृष्ण के आदर्शों को बाहरी जगत् में क्रियान्वित करना होगा। श्रीरामकृष्ण एक मानव-शरीर नहीं, अनुभूति की एक अवस्था हैं। हमें उसी अवस्था में प्रवेश करना होगा और जीवन के रहस्यों की चाभी प्राप्त करनी होगी। कैलिफोर्निया की एक सभा को सम्बोधित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—"जीसस या मोहम्मद का अनुसरण करना धर्म नहीं है···जीसस की अनुकृति मत बनो, किन्तु जीसस बनो ! तुम जीसस, बुद्ध या किसी भी अन्य महापुरुष के समान महान् हो। यदि हमलोग वैसे नहीं हैं तो हमें वैसा होने के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। अपने में श्रद्धा रखो।" (स्वामी विवेकानन्द : सेकेण्ड विजिट टु द वेस्ट : पृ० ३७०)

श्रीरामकृष्ण को अपने जीवन में ढाल लेना अर्थात् श्रीरामकृष्ण बन जाना, बड़ा कठिन कार्य है। यह एक जीवन का कार्य नहीं है। जनम-जनम के प्रयत्नों के बाद कभी स्वयं श्रीरामकृष्ण की कृपा से ही श्रीरामकृष्ण हुआ जा सकता है। किन्तु, श्रीरामकृष्ण के आदर्शों को कार्यरूप देने की चेष्टा अवश्य की जा सकती है। और यह चेष्टा, यह प्रयास श्रीरामकृष्ण के पाद-पद्मों में अर्पित सबसे बड़ी श्रद्धा, सबसे बड़ी भक्ति और सबसे बड़ी प्रीति होगी।

मेरे कुछ युवा मित्र कहा करते हैं कि श्रीरामकृष्ण के आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करना भी कम कठिन नहीं है। फिर श्रीरामकृष्ण अनन्त भावमय हैं। इतने भावों को कैसे कार्य में कोई एक व्यक्ति ढाल सकता है ? वस्तुतः श्रीरामकृष्ण के आदर्शों को कार्यरूप देना कठिन है। लेकिन यह कहकर ही रुकना तो कापुरुषों का काम है। श्रीरामकृष्ण के दास या सेवक या पुत्र—जो भी हम अपने को मानों—दुर्बल प्राण नहीं हो सकते। उन्हें असीम शक्ति, अपरिमेय बल और अनन्त धैर्य के साथ श्रीरामकृष्ण के कार्यों के अश्वमेध यज्ञ का अश्व होना ही होगा। श्रीरामकृष्ण के परम करुणामय आनन्दघन स्वरूप को दृष्टिपथ में रखकर, उनका यंत्र बनकर, आगे बढ़ना होगा। २५ सितम्बर, १८९४ को न्यूयार्क से स्वामी ब्रह्मानन्द को सम्बोधित अपने पत्र में उपर्युक्त तथ्य की ओर निर्देश करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने लिखा—"सदा याद रखना कि श्रीरामकृष्णदेव संसार के कल्याण के लिए आये थे—नाम या मान के लिए नहीं। वे जो कुछ सिखाने आये थे, वही फैलाओ। हमारे गुरुदेव को मानना पड़ेगा यह कहने ही से दलबन्दी होगी। और सब सत्यानाश हो जायगा—सावधान ! सभी से मधुर-भाषण—गुस्सा करने ही से सब काम बिगड़ता है, जिसका जो जी चाहे कहे, आप में मस्त रहो- दुनिया तुम्हारे पैरों-तले आ

जायगी, चिन्ता मत करो। लोग कहते हैं—इस पर विश्वास करो, उस पर विश्वास करो; मैं कहता हूँ—पहले अपने आप पर विश्वास करो। अपने पर विश्वास करो - सब शक्ति तुममें है—इसकी धारणा करो और शक्ति जगाओ—कहो, हम सब कुछ कर सकते हैं। "नहीं-नहीं कहने से साँप में विष भी नहीं रह जाता।" नहीं-नहीं" मत कहो, कहो 'हाँ-हाँ', 'सोऽहम्' 'सोऽहम्'।"

इसी पत्र में उन्होंने आगे कहा—"महा हुंकार के साथ कार्य का आरम्भ कर दो। भय क्या है? किसको शक्ति है जो बाधा डाले? कुर्मस्तारकचर्वणम् त्रिभुवन-मुतपाटयामो बलात्। किं भो न विजानास्यस्मान्—रामकृष्णदासावयम्। (अर्थात् हम ताराओं को अपने दाँतों के नीचे पीस दे सकते हैं; बलपूर्वक तीनों लोकों का उत्पाटन कर सकते हैं। हमें नहीं जानते? हम श्रीरामकृष्ण के दास हैं!) भय? किसका भय? किन्हें भय? (पृ०१७९-८०)

श्रीरामकृष्ण के दासों को भारतवर्ष में क्या करना है इस सम्बन्ध में स्वामीजी ने गंभीर रूप से विचार किया था और शिकागो से २३ जून १८९४ को मैसूर के महाराजा को लिखे अपने पत्र में उस पर प्रकाश डालते हुए कहा था—"भारतवर्ष के सभी अनर्थों की की जड़ है—जनसाधारण की गरीबी। पाश्चात्य देशों के गरीब तो निरे पशु हैं। उनकी तुलना में हमारे यहाँ के गरीब तो देवता हैं इसीलिए हमारे यहाँ के गरीबों की उन्नति करना अपेक्षाकृत सहज है। अपने निम्न-श्रेणीवालों के प्रति हमारा एकमात्र कर्त्तव्य है—उनको शिक्षा देना, उन्हें सिखाना कि इस संसार में तुम भी मनुष्य हो, तुमलोग भी प्रयत्न करने पर अपनी सब प्रकार उन्नति कर सकते हो। अभी वे लोग यह भाव खो बैठे हैं।…पुरोहिती शक्ति और विदेशी विजेतागण सदियों से उन्हें कुचलते रहे हैं, जिसके फलस्वरूप भारत के गीरब बेचारे यह तक भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। उनमें विचार पैदा करना होगा। उनके चारों ओर दुनिया में क्या-क्या हो रहा है, इस सम्बन्ध में उनकी आँखें खोल देनी होंगी; बस फिर वे अपनी मुक्ति स्वयं सिद्ध कर लेंगे। प्रत्येक जाति, प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री को अपनी अपनी मुक्ति सिद्ध करनी पड़ेगी। उनमें विचार पैदा कर दो—बस, उन्हें उसी एक सहायता का प्रयोजन है, और शेष सब कुछ इसके फलस्वरूप स्वयं हो जायगा।"

यह कार्य कैसे करना है? सबसे पहले आवश्यक है प्रेम, धैर्य और निःस्वार्थ होना। "नहीं कहने से न बनेगा। और किसी बात की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है केवल प्रेम, अकपटता और धैर्य की। जीवन का अर्थ ही वृद्धि अर्थात् विस्तार यानी प्रेम है। इसलिए प्रेम ही जीवन है, यही जीवन का एकमात्र गति-नियामक है और स्वार्थपरता ही मृत्यु है।" इसी भाव को विस्तार देते हुए स्वामी जी कहते हैं—"सब प्रकार का विस्तार ही जीवन है और सब प्रकार की संकीर्णता मृत्यु है। जहाँ प्रेम है, वहीं विस्तार है और जहाँ स्वार्थ है, वहीं संकोच। अतः प्रेम ही जीवन का एकमात्र विधान है, जो प्रेमिक है, वही जीवित है; जो स्वार्थी है, वह मृतक है: जबकि प्रेम ही जीवन का एकमात्र विधान है, अतः जैसे श्वास-प्रश्वास लिये बिना जीवित नहीं रहा जा सकता, वैसे ही प्रेम के बिना जीवन धारण भी असम्भव है और इसीलिए अहैतुक प्रेम आवश्यक है। निष्काम प्रेम, निष्काम कर्म इत्यादि का यही रहस्य है।" (पृ० ४०६)

अब इसी प्रकार प्रेमिक होकर अर्थात् हृदय को विस्तृत बनाकर, निःस्वार्थ भाव से गरीबों की सेवा में लग जाना होगा। किस प्रकार? इसकी भी विस्तृत रूपरेखा स्वामीजी ने प्रस्तुत की है। २८ मई १८९४ को अपने एक युवा शिष्य आलासिंगा को उन्होंने शिकागो से लिखा था- "तुमलोग कछ धन इकट्ठाकर एक कोष बनाने का प्रयत्न करो। शहर में जहाँ गरीब-से-गरीब लोग रहते हैं वहाँ एक मिट्टी का घर और एक हॉल बनाओ। कुछ मैजिक लैण्टर्न, थोड़े से

नक्शे, ग्लोब और रासायनिक पदार्थ इकट्ठा करो। हर रोज शाम को वहाँ गरीबों को—यहाँ तक कि चाण्डालों को—एकत्रित करो। पहले उनको धर्म के उपदेश दो, फिर मैजिक लैण्टर्न और दूसरे पदार्थों के सहारे ज्योतिष, भूगोल आदि बोल चाल की भाषा में सिखाओ। एक अति तेजस्वी युवक-दल गठन करो और अपनी उत्साहाग्नि उनमें जला दो। धीरे-धीरे इस दल को बढ़ाते रहो—धीरे-धीरे उसकी सीमा बढ़ने दो। तुम लोगों से जितना हो सके करो। जब नदी में कुछ पानी नहीं रहेगा तभी पार होंगे, ऐसा सोचकर बैठे मत रहो।" इसी पत्र में वे आगे लिखते हैं—"कार्य का आरम्भ बहुत मामूली हुआ, यह सोचकर डरो मत,। साहस करो। नेता बनना मत चाहो—सेवा करते रहो। नेता बनने की इस पाशविक प्रवृत्ति ने जीवन-रूपी समुद्र में बहुत से बड़े-बड़े जहाजों को डुबा दिया है। इस विषय में सावधान रहना, अर्थात् मृत्यु तक को तुच्छ समझकर निःस्वार्थ हो जाओ और काम करो। मुझे जो-जो कहना था सब तुमको लिख नहीं सका। ऐ वीर बालको ! प्रभु तुम्हें सब समझा देंगे। कार्य में लग जाओ। ऐ प्यारे बच्चो ! अब देर करने का अवसर नहीं है। प्रभु की जय हो!" (पृ० १३१-३२)

लोगों में शिक्षा-दीक्षा का प्रचार-प्रसार कर हमें यह भी चेष्टा करनी होगी कि लोगों का भौतिक-स्तर भी ऊँचा हो। हम आध्यात्मिकता और भौतिकता को साथ लेकर चलेंगे। बहुत लोगों की यह धारणा है कि श्रीरामकृष्ण भौतिकता के विरोधी थे। पर ऐसी बात है नहीं। वे चाहते थे कि लोगों का जीवन-स्तर उन्नत हो, पर आय का साधन पवित्र हो। स्वामी विवेकानन्द ने भी इस तथ्य की ओर ध्यान दिया। "हम मूर्खों की तरह भौतिक सभ्यता की निन्दा किया करते हैं। अंगूर खट्टे हैं न ! उस मूर्खोचित बात को मान लेने पर भी यह कहना पड़ेगा कि सारे भारतवर्ष में लगभग एक लाख यथार्थ धार्मिक नर-नारी हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या इतने लोगों की धार्मिक उन्नति के लिए भारत के तीस करोड़ अधिवासियों को बर्बरों का-सा जीवन व्यतीत करना और भूखों मरना होगा ? क्यों कोई भूखों मरे ? मुसलमानों के लिए हिन्दुओं को जीतना कैसे सम्भव हुआ ? हिन्दुओं का भौतिक सभ्यता का निरादर करना ही इसका कारण था। सिले हुए कपड़े तक पहनना मुसलमानों ने इन्हें सिखलाया। क्या अच्छा होता यदि हिन्दू मुसलमानों से साफ ढंग से खाने की तरकीब सीख लेते जिसमें रास्ते का गर्द भोजन के साथ न मिलने पाता। भौतिक सभ्यता, नहीं-नहीं, भोग-विलास की भी जरूरत होती है—क्योंकि उससे गरीबों को काम मिलता है।" आगे वे पुनः कहते हैं—"अन्न ! अन्न ! मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि वह भगवान् जो मुझे यहाँ पर अन्न नहीं दे सकता, स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख देगा। राम कहो ! भारत को उठाना होगा, गरीबों को खिलाना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पौरोहित्य की बुराइयों को ऐसा धक्का देना होगा कि वे चकराती हुई एकदम ऐटलाण्टिक महासागर में जा गिरें।" (पृ० २११)

आज आवश्यकता है ऐसे युवकों की जो श्रीरामकृष्ण की भावधारा को गली-गली में बिखेर दें। क्योंकि—"श्रीरामकृष्ण के पद प्रान्त में बैठने पर ही भारत का उत्थान हो सकता है। उनकी जीवनी एवं उनकी शिक्षाओं को चारों ओर फैलाना होगा,—हिन्दू समाज के अंग में—रोम-रोम में उन्हें भरना होगा। यह कौन करेगा ? श्रीरामकृष्ण की पताका हाथ में लेकर संसार की मुक्ति के लिए विचरण करनेवाला है कोई ? नाम और यश, ऐश्वर्य और भोग का, यहाँ तक कि इहलोक और परलोक की सारी आशाओं का बलिदान करके अवनति का प्रवाह रोकने वाला है कोई ? कुछ इने गिने-युवक इस पुराने किले के जीर्ण खण्ड में कूद पड़े हैं, उन्होंने अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया है। परन्तु इनकी संख्या थोड़ी है। हम चाहते हैं कि ऐसे ही मनुष्य हजारों हो जायें। वे आयें, उनका स्वागत है।"—स्वामी विवेकानन्द ने घोषणा की थी।

मित्रो, श्रीरामकृष्ण के दासों की, श्रीरामकृष्ण के

पुत्रों की एक विशेष पहचान है। उनके लिए एक विशेष कसौटी है, निकष है, जिस पर उन्हें खरा उतरना ही होगा। तभी हम उनका दास या पुत्र कहाने के योग्य हो सकेंगे। क्या है यह पहचान? स्वामीजी ने यह कसौटी हमें बतायी है। स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने कहा था--"जो आराम-तलब है, आलसी है, उसके लिए नरक में भी जगह नहीं है। जीवों के लिए जिसमें इतनी करुणा होती है कि खुद उनके लिए नरक में भी जाने को तैयार रहता है—उनके लिए कुछ कसर नहीं उठा रखता, वही श्रीराम-कृष्ण का पुत्र है,— इतरे कृपणाः—दूसरों को हीनबुद्धि समझना। जो इस समय पूजा के महासन्धि-मुहूर्त में कमर कसकर खड़ा हो जायगा, गांव-गांव में, घर-घर में, उनका संवाद देता फिरेगा वही मेरा भाई है—वही उनका पुत्र है। यही परीक्षा है—जो रामकृष्ण के पुत्र हैं, वे अपना भला नहीं चाहते, प्राण निकल जाने पर भी दूसरों की भलाई चाहते हैं—प्राणात्ययेऽपि परकल्याण चिकीर्षवः।"

स्वामीजी ने इसी पत्र में आगे कहा है—"उनका (श्रीरामकृष्ण का) चरित्र, उनकी शिक्षा इस समय चारों ओर फैलाते जाओ—यही साधन है, यही भजन है, यही साधना है, यही सिद्धि है।···नाम का समय नहीं है, यश का समय नहीं है, मुक्ति का समय नहीं है, भक्ति का समय नहीं है, इनके बारे में फिर कभी देखा जायेगा। अभी इस जन्म में उनके महान् चरित्र का, उनके महान् जीवन का, उनकी महान् आत्मा का अनन्त प्रचार करना होगा। काम केवल इतना ही है, इसको छोड़ और कुछ नहीं। जहाँ उनका नाम जायेगा, कीट-पतंग तक देवता हो जायेंगे, हो भी रहे हैं, देखकर भी नहीं देखते?···जो-जो उनकी सेवा के लिए—उनकी सेवा नहीं, वरन् उनके पुत्र दीन-दरिद्रों, पापी-तापियों, कीट-पतंग तक की सेवा के लिए तैयार होंगे, उन्हीं के भीतर उनका आविर्भाव होगा। उनके मुख पर सरस्वती बैठेंगी, उनके हृदय में महामाया, महाशक्ति आकर विराजित होंगी। जो नास्तिक हैं, अविश्वासी हैं, किसी काम के नहीं हैं, दिखाऊ हैं, वे अपने को उनके शिष्य क्यों कहते हैं?" (पृ० २२६-२२७)

तो मित्रो, श्रीरामकृष्ण के दासों या संतितियों का यह पुनीत कर्म है कि वे बिना शोर-गुल के ओस की बूंद की भाँति चुपचाप गिरकर जीवन की डाल पर सूनी पड़ी किसी कलिका को खिल जाने में सहायता प्रदान कर अपने जीवन को धन्य और सार्थक कर लें। भगवान् श्रीरामकृष्ण से मेरी आंतरिक प्रार्थना है कि वे हममें वह योग्यता और सामर्थ्य प्रदान करने की कृपा करें जिनसे हम उनके सही दास, सच्चे सेवक और निश्छल पुत्र बन सकें। जय श्रीरामकृष्ण। जय स्वामी जी!!

*

[पृष्ठांकित समस्त उद्धरण रामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित स्वामी विवेकानन्द की 'पत्रावली' प्रथम भाग से लिये गये हैं।—सं०]

युग धर्म और जीव सेवा

—स्वामी ओंकारेश्वरानन्द

अनुवादक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

[श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग संन्यासी शिष्य श्रीमत् स्वामी प्रेमानन्दजी (बाबूराम महाराज) के जीवन का यह प्रेरक एवं शिक्षाप्रद प्रसंग स्वामी ओंकारेश्वरानन्द प्रणीत "प्रेमानन्द" नामक बंगाली पुस्तक से लिया गया है। भावानुवाद रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी के स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी महाराज ने किया है। —सं०]

मालदह के दो भक्त कलकत्ता आये हैं। मालदह में 'श्रीरामकृष्ण महोत्सव' का आयोजन किया जा रहा है तथा वहाँ के भक्तों की हार्दिक इच्छा है कि इस अवसर पर श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग संन्यासी शिष्य स्वामी प्रेमानन्दजी (बाबूराम महाराज) को वहाँ ले जाया जाय। परिचयादि के बाद भक्तों ने अपनी मनोकामना व्यक्त की।

बाबूराम महाराज—"पूर्व बंगाल की यात्रा से लौटने के बाद से बार-बार मन में लग रहा था कि राजशाही (उत्तर बंगाल) की ओर से क्या कोई हमें नहीं बुलायेगा ? अब देखता हूँ, सोचते न सोचते मालदह से बुलावा आ गया। श्री श्रीठाकुर का उत्सव करोगे यह तो बड़ा अच्छा है। वे कृपा करके सभी प्रकार की सहायता करेंगे।" एक भक्त—"वहाँ के उत्सव की सारी व्यवस्था होने तथा दिन निश्चित होने पर मैं यथा समय आपको सूचित करूँगा। आप कृपया तैयार रहियेगा। हम आपको ले जाने के लिये आयेंगे।"

इस प्रकार कुछ देर तक वार्तालाप के बाद भक्तों ने महाराज को प्रणाम कर विदा ली।

बंगला सन् १३२१ (सन् १९१४ ई०) के ज्येष्ठ माह में मालदह में महोत्सव होना निश्चित हुआ। यथा समय भक्त पूज्य बाबूराम महाराज को ले जाने के लिए बेलुड़ मठ आये।

महाराज—"तुम लोग आ गये ? सोच रहा था कि शायद तुम लोग हमें बुलाओगे ही नहीं।

भक्त—"महाराज, यहाँ से कब रवाना होना आपके लिए सुविधाजनक होगा ? वहाँ सभी लोग आस लगाये बैठे हैं। मालदह जाने की तारीख निश्चित कर उन्हें सूचित कर देने से वे लोग निश्चिन्त हो जायेंगे।

महाराज—"जाना क्या मेरी इच्छा से होता है ?"

भक्त—"तो किसकी इच्छा से, महाराज ?"

महाराज—"श्री श्रीठाकुर की यदि इच्छा हो तो जाना होगा। हम तो न जाने कितनी इच्छाएँ करते हैं, लेकिन अपनी इच्छानुसार कितने कार्य कर पाते हैं भला ?"

भक्त—"श्री श्रीठाकुर की इच्छा कैसे जानेंगे, महाराज ?"

महाराज—"क्यों ? माँ जगदम्बा बागबाजार में साक्षात् विराजमान हैं। उनसे पूछने से ही होगा। वे यदि अनुमति दे दें तो जाऊँगा।"

दूसरे दिन प्रातःकाल मालदह जाने की अनुमति प्राप्त करने के लिए मातृभक्त स्वामी प्रेमानन्दजी परमाराध्या श्री श्री माँसारदा के पास बागबाजार स्थित 'मायेर बाड़ी' मालदह के भक्तों तथा एक ब्रह्मचारी के साथ उपस्थित हुए। श्री श्रीमाँ के "द्वारपाल" माँ के एकनिष्ठ सेवक पूजनीय स्वामी सारदानन्दजी से कुछ समय तक वार्तालाप करने के बाद महाराज ऊपरी मंजिल पर श्री श्रीमाँ सारदा के पास गये एवं उन्हें साष्टांग प्रणाम कर उनके चरणों के निकट बैठ गये। श्री श्रीमाँ अपने तख्त पर पैर नीचे किये बैठी-बैठी स्वामी प्रेमानन्दजी से बातचीत करने लगीं। कुशल प्रश्नादि के बाद बाबूराम महाराजने मालदह के भक्तों को दिखाते हुए कहा, "ये लोग मालदह से आये हैं। वहाँ श्री श्री ठाकुर का उत्सव होगा। ये लोग चाहते हैं कि मैं वहाँ जाऊँ।"

श्रीमाँ—"वह तो बहुत दूर है। और इसबीच तुम बीमार पड़े थे न ?"

महाराज—"हाँ माँ, बारह-चौदह दिन पूर्व एक बार बुखार हुआ था।"

श्रीमाँ—"तुम बीमार भी रह चुके हो। तो फिर इस गर्मी में इतनी दूर न जाना ही ठीक है।"

महाराज—"अच्छा माँ, यह ठीक है, ठीक है।" ऐसा कह कर महाराज श्रीमाँ को प्रणाम कर नीचे चले गये। महाराज को देखने से ऐसा लगा मानो श्रीमाँ ने उनका अभीप्सित आदेश ही उन्हें दिया है तथा उससे वे अत्यन्त प्रसन्न हैं। कैसे अद्भुत महापुरुष हैं ये। मालदह जाने के सम्बन्ध में उनकी व्यक्तिगत असहमति कभी भी नहीं थी। फिर भी माँ ने जब अनुमति नहीं दी तो उन्होंने प्रतिवाद का एक शब्द भी नहीं कहा। कहाँ तो "शायद तुम लोग हमें बुलाओगे ही नहीं," यह कहना और कहाँ माँ के मना करने पर "हाँ, हाँ ठीक है" कह कर आनन्दित होना। लोकोत्तर महापुरुषों के जीवन में विपरीत भावों का, स्वाधीन इच्छा और भगवत् शरणागति का कैसा सुन्दर समन्वय!

इधर मालदह के भक्त तो मानो आसमान से गिर पड़े। कुछ क्षण किंकर्तव्यविमूढ़ बने रहने के बाद उन्होंने साहस करके सारी वस्तु-स्थिति माँ को समझायी—दो-तीन माह से विराट् उत्सव की तैयारी हो रही है; सभी बाबूराम महाराज की प्रतीक्षा में बैठे हैं, उनके न जाने से हजारों लोग निराश एवं कार्यकर्त्ता व्यथित होंगे; मालदह अधिक दूर नहीं है तथा प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी के डब्बे में सारी सुव्यवस्था करके महाराज को ले जाया जायेगा; अधिक दिन नहीं, तो भी कम-से-कम दो-चार दिन के लिए महाराज को यदि मालदह जाने की अनुमति न दें तो सारे किये-कराये पर पानी फिर जायेगा, इत्यादि।

यह सब सुनकर श्रीमाँ कुछ आश्वस्त हुई तथा भक्तों को कुछ देर के लिये बाहर जाने को कहा जिससे वे विचार कर सकें। लोगों के चले जाने के बाद माँ कुछ समय तक अकेले मन्दिर में रहीं। तत्पश्चात् श्रीमाँ ने पुनः बाबूराम महाराज को अपने पास बुलवाया और कहा—"अच्छा बाबूराम ये लोग इतना आग्रह कर रहे हैं। तो क्या तुम जाओगे?"

महाराज—"मैं क्या, जानूँ, माँ, मैं क्या जानूँ? मुझे आप जो आदेश देंगी, वही करूँगा। जल में कूदने को कहेंगी तो जल में कूदूँगा। आग में छलांग मारने को कहेंगी तो आग में छलांग मारूँगा, पाताल में प्रवेश करने को कहेंगी तो वही करूँगा। मैं क्या जानूँ? आपका जो आदेश!

ये बातें कहते-कहते बाबूराम महाराज का चेहरा आरक्तिम हो उठा। उन्होंने ये बातें इतने भावावेश में कहीं कि कुछ क्षणों तक सभी स्तब्ध एवं नीरव, तथा एक अद्भुत भाव में विमुग्ध हो गये। श्रीमाँ भी कुछ क्षणों तक शान्त रहीं। अपूर्व दृश्य था वह, जिसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता।

श्रीमाँ, "ये लोग श्री श्रीठाकुर का उत्सव कर रहे हैं। इतना आग्रह कर रहे हैं। एक बार हो आओ। लेकिन अधिक दिन न रहना।"

यह सुनकर बाबूराम महाराज सम्मति प्रकट कर नीचे चले गये। भक्त भी जाने लगे तो माँ ने उन्हें बुलवाया और कहा, "देखो, ये लोग महापुरुष हैं। इनका शरीर जगत् कल्याण के लिये है। ध्यान रखो कि इनके शरीर को किसी प्रकार का कष्ट न हो।" भक्तों ने आश्वासन दे कर विदा ली।

यथासमय स्वामी प्रेमानन्दजी मालदह पहुँचे। सुसज्जित स्टेशन पर स्वामीजी का विशाल जनसमुदाय ने स्वागत किया। एक शोभा-यात्रा में उन्हें उनके आवास-स्थान ले जाया गया। दूसरे दिन "श्रीरामकृष्ण महोत्सव" था। प्रातःकाल मंगल-आरती, पूजा एवं कीर्तन, दोपहर को प्रसाद वितरण एवं दरिद्र-नारायण की सेवा की गयी। सायंकाल एक विशाल जनसभा का आयोजन किया गया था।

यथा समय बाबूराम महाराज सभा-स्थल आये। उपस्थित गण्यमान्य व्यक्ति तथा कई हजार लोग महाराज के उपदेश सुनने के लिए उत्सुक थे। सभापति द्वारा आह्वान करने पर महाराज विपुल जनमंडली के सामने खड़े हुए। उज्ज्वल गैरिक वस्त्रविभूषित सौम्य गौरवर्ण संन्यासी प्रवर को अपने सम्मुख दंडायमान देखकर सभा-मंडप एक अनिर्वचनीय निःस्तब्धता से मानो

आविष्ट हो गया। महाराज ने अपने स्वाभाविक उच्च कंठ एवं ओजस्वी भाषा में 'युगधर्म और जीव-सेवा" पर एक संक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही भाषण दिया जिसका संक्षिप्त मर्म इस प्रकार है :—

"वर्तमान युग में धर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की धारणाएँ विद्यमान हैं। कोई आचार (लोकाचार, देशाचार आदि) को धर्म मानते हैं तो कोई नियमानुष्ठान को। कुछ लोग विग्रह पूजा, व्रत, यज्ञानुष्ठान आदि को ही श्रेष्ठ धर्म मानते हैं।

"धर्म का अर्थ है। त्याग त्याग ही धर्म का प्राण है। जिस क्रिया-अनुष्ठान में सब कुछ होते हुए भी त्याग नहीं है, वह प्राणहीन एवं धर्म का बाह्य आडम्बर मात्र है। वर्तमान युग में हमलोग सार तत्व से लक्ष्य-भ्रष्ट हो केवल उसके बाहरी छिलके को लेकर हो-हल्ला कर मरे जा रहे हैं। जिसके पास जो है उसका फलाकांक्षा-रहित हो अकातर भाव से दान करना ही त्याग है। यह त्याग ही धर्म है।

"एक दृष्टि से देखने से एक रोगी की सेवा में शालग्राम-शिला की सामान्य भाव से की गयी पूजा की अपेक्षा अधिक धर्म निहित है। शालग्राम-शिला तो बोलती नहीं। उसका भक्त अपनी सुविधानुसार किसी दिन सूर्योदय के पूर्व रात्रि के अन्तिम प्रहर में, या अन्य किसी दिन अपराह्न तीन-चार बजे एक तुलसी-दल चढ़ा कर सोचता है कि विग्रह की पूजा हो गई। अपने सांसारिक कर्म, मुकदमा, लौकिक कर्तव्य आदि की रक्षा करते हुए पूजा करना ही क्या धर्म होता है? इस पूजा में कोई त्याग नहीं है। लेकिन दूसरी ओर, रोगी की परिचर्या में कहीं अधिक त्याग स्वीकार करना पड़ता है। रोगी की सेवा में प्रतिक्षण उसके आराम और सुविधा की ओर दृष्टि रखनी पड़ती है। सेवक को अपना विश्राम, सुविधा, तथा बदमिजाजी तक का विसर्जन कर रोगी की सुश्रूषा का कार्य करना पड़ता है। इसमें कितना त्याग, कितनी तितिक्षा, धैर्य एवं सहिष्णुता की आवश्यकता होती है? यह क्या आसान है? इस पर रोगी की नारायण-ज्ञान से सेवा करना तो और कितना ऊँचा भाव है। जीव की शिव-ज्ञान से सेवा अति उच्चकोटि का धर्म है। "यत्र जीव: तत्र शिव:।" इस भाव से की गयी सेवा जीवन्त भगवत् सेवा के समतुल्य है।

"सेवा भी क्या केवल एक प्रकार की होती है? क्षुधातुर को अन्न, निरक्षर को शिक्षा, अस्वस्थ को स्वास्थ्य एवं अज्ञानी को ज्ञान देना आदि अनन्त प्रकार की सेवाएँ होती हैं। विश्व-वन्द्य स्वामी विवेकानन्द श्री श्रीठाकुर से 'शिव-ज्ञान से जीव सेवा' की बात सुनकर अत्यन्त आश्चर्य-चकित हो गये थे। उन्होंने अपनी असामान्य, अलौकिक आध्यात्मिक-प्रतिभा की सहायता से सेवा को युग-धर्म के रूप में जाना। वे अपने पुण्य, पवित्र जीवन के माध्यम से 'जीव सेवा ही धर्म है' यह प्रदर्शित कर गये हैं।"

धर्म और सेवा के सम्बन्ध में इस प्रकार आधे घन्टे तक बोलते हुए जब महाराज भाषण समाप्त करने जा रहे थे तब उनके पीछे से कुछ लोग बोले, "महाराज, हम कुछ प्रेम-भक्ति की बात सुनने के लिए आये थे।" पहले तो महाराज ने इस पर कर्णपात नहीं किया किन्तु जब एक सज्जन बार-बार यह बात कहने लगे तो वे उत्तेजित हो उस व्यक्ति की ओर तेजी से मुड़े और सिंह की तरह गरजते हुए बोले, "कौन सुनेगा? किसे कहूँ प्रेम-भक्ति की बात? प्रेम-भक्ति की बात सुनने का अधिकारी कौन है यहाँ?"

सभी अवाक्, स्तब्ध और विस्मित हो गये। कुछ देर बाद उन लोगों में से एक ने कहा, "महाराज, क्या आप जानते हैं कि इन कई हजार श्रोताओं में एक भी व्यक्ति प्रेम और भक्ति का अधिकारी नहीं है?"

महाराज, "यदि यही न समझ सका तो इतने दिनों तक साधु होकर मैंने किया ही क्या है? चेहरा देखकर ही सब जान सकता हूँ। सुनना चाहते हो? तो सुनो। एक फेरी वाला (खोमचे वाला) सड़कों और गलियों में चिल्लाता हुआ घूम रहा था, "प्रेम लो प्रेम, प्रेम लो प्रेम। प्रेम चहिए प्रेम?" रास्ते के दोनों ओर के सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष घरों से बाहर आकर, कहने लगे, 'हाँ, हाँ लेंगे। दाम क्या है?'

'अरे, इसका भी कोई दाम होता है?' फेरी वाले ने कहा। 'यह तो मूल्य देकर खरीदा नहीं जाता, यह अमूल्य जो है। पर हाँ, एक मूल्य पर दे सकता हूँ। इसका मूल्य है सिर। क्या कोई इसी क्षण अपना सिर काट कर दे सकता है?

"मूल्य की बात सुनकर सभी ने जल्दी-जल्दी घरों में घुसकर दरवाजे बन्द कर लिये। इसीलिये कह रहा था, कि प्रेम-भक्ति की बात सुनने की इच्छा होना, यह तो अच्छा है, पर आपलोग क्या अपना सिर बलिदान कर सकते हैं? कौन कर सकता है, बोलिये? क्या कोई प्राण न्योछावर कर सकेगा?"

सभी निर्वाक्। ओजस्वी भाषा में महाराज के द्वारा हृदय के भाव प्रकट होने पर सभी स्तम्भित हो उनके सिंह सम आरक्तिम मुखमंडल की ओर ताकते रहे। थोड़ी देर में महाराज अपनी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त कर कहने लगे, "प्रेम-भक्ति सरल नहीं है। इस युग में विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्द जिसकी शिक्षा दे गये हैं, वही धर्म है— शिव-ज्ञान से जीव-सेवा।"

स्वामी विवेकानन्द के प्रति

—डॉ० (श्रीमती) वीणा कर्ण

['विवेक शिखा' (स्वामी विवेकानन्द अंक—१९८५) पढ़कर मन में उपजी भावना की अभिव्यक्ति]

तुमने ललकारा युवकों को, हे, उठो देश के कर्णधार,
हो दृढ़ विश्वासी, वीर्यवान, तेजस्विता बने जीवनाधार।
भारत के भाग्यविधाता तुम इच्छाओं का परित्याग करो,
मन, वचन, कर्म, कल्याण-भावना से भव का दुःख-भार हरो।

सुदृढ़ गतिशील तरंगों-सा भारत के गाँवों में विचरो,
जो दीन-हीन पददलित व्यक्ति उनमें शुभ नैतिक भाव भरो।
तेरे पुनीत जीवन में था इन सब बातों का समाहार,
वरदान मिले तेरा, हम जीवन में अपनाएं सदाचार।

तुम थे प्रतीक मानवता के, थे शांतिदूत अग्रज मेरे,
दो आत्मज्योति आलोक-रश्मि जो सदा रहे मन को घेरे।
धीरज, बल, बुद्धि, स्नेह-सागर के बने रहे प्रतिमूर्ति अहा!
पाथेय हमारा यही प्रेरणा-स्रोत जगाता रहे सदा।

सबके प्रति था सद्भाव विमल, जो मन प्राणों से बंधा हुआ,
उस बन्धन को हम सुदृढ़ करें, संकल्प रहे यह सधा हुआ।
उस शुभ्र-विमल सिद्धान्तों की मैं करूँ सदा ही अगुआई,
जो बन पराग जीवन-वसन्त को हरित करे बन अमराई।

तेरी जीवन-गाथा से हम कर्त्तव्य-राह पावन कर लें,
तेरे आशीः शब्द-मुक्ता से हम अपना आँचल भर लें।
मन आलोकित है, भावसिक्त है रोम-रोम करुणा तरंग
जिसका सम्बल ले काटूँ मैं भव बन्धन के सब राग-रंग।

तेरे सान्निध्य सरोवर में प्रस्फुटित हुआ अरविन्द-कुंज,
उस फुलवारी के गन्ध-राग से रंजित हो अनुराग-पुंज।
अनुराग-पुंज बनकर पराग बरसे मानव के मानस पर,
सारे कल्मष को धो डाले, मन सबल बने जो हो जर्जर।

ईप्सा है मेरी, बने रहो तुम चिर शाश्वत अन्तर्मन में,
मैं अग्रदूतिका 'वीणा' बन सन्देश सुनाऊँ जन-जन में।
तप त्याग अमल निस्सीम प्रेम की मैं अनन्त झंकार बनूँ,
मानव-शिव की पूजा हित मैं अर्पित सेवा साकार बनूँ।

मैथिली विभागाध्यक्ष,
मगध महिला महाविद्यालय, पटना—१

*

स्वामी विवेकानन्द और आविष्कारक मैक्सिम

—ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य
रामकृष्ण मठ, नागपुर

सर हिरेम स्टिवेन्स मैक्सिम (१८४०-१९१६ ई०) अमेरिका के एक प्रसिद्ध आविष्कारक थे। उनकी विलक्षण वैज्ञानिक प्रतिभा के कारण १८७८ ई० में उन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रथम विद्युत कम्पनी का प्रमुख इंजीनियर नियुक्त किया गया था, जहाँ पर कार्य करते हुए उन्होंने बल्बों में उपयोग किये जाने के हेतु कार्बन-तन्तु का उत्पादन करने की एक विशेष पद्धति का विकास किया था। १८८१ ई० में उन्होंने पेरिस मेले में एक विद्युत-चाप नियन्त्रक यंत्र प्रदर्शित किया। १८८९ से १८९४ ई० के दौरान उन्होंने एक वायुयान का निर्माण किया, जो कि ४० मीटर लम्बा ३ टन वजनी तथा १५० अश्व-शक्ति के दो वाष्प-इंजनों से युक्त था। परीक्षण उड़ान के समय पहली बार धरती से उठते ही यह वायुयान ध्वस्त हो गया था। उन्होंने यूरोप तथा अमेरिका में अपने सैकड़ों आविष्कार पेटेंट कराये थे, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण था—मशीनगन। इसका विकास करने के हेतु वे लन्दन में जा बसे थे। १८८४ ई० में उन्होंने प्रथम सन्तोषजनक पूर्णतया स्वचालित मशीनगन बनायी, जिसमें विस्फोट के धक्के से ही खाली कारतूस बाहर आ जाता था और घोड़ा पुनः चढ़ जाता था। इसकी कार्य-क्षमता में वृद्धि करने के लिये उन्होंने कारबाइड नामक एक धुम्र-रहित नयी बारूद की भी खोज की थी। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए उन्होंने इंग्लैंड में मशीनगन का कारखाना लगाया। कुछ ही वर्षों के भीतर विश्व की सभी प्रमुख सेनाएँ मैक्सिम गन या उससे मिलती जुलती मशीनगनों से लैश हो गयीं। ब्रिटिश सेना में यह १८८९ ई० में स्वीकृत हुआ था। १९०१ ई० में सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि से विभूषित किया।

X X X X

विश्व धर्मेतिहास सम्मेलन में भाग लेने के लिए स्वामी विवेकानन्द ३ अगस्त १९०० ई० को पेरिस पहुँचे। सम्मेलन में भाग लेने के अतिरिक्त उन्होंने वहाँ पर आये हुए विश्व भर के अनेक बुद्धिजीवियों के साथ चर्चा आदि करते हुए वहाँ पर लगभग तीन महीने बिताये थे। तदुपरांत उनकी आस्ट्रिया, तुर्की, यूनान मिस्र आदि देशों का भ्रमण करने की योजना थी। वहीं पर सम्भवतः अक्तूबर के किसी दिन श्री मैक्सिम स्वामीजी से मिलने को आये थे। इसके पहले वे स्वामीजी के ग्रंथ तथा समाचार-पत्रों में उनके क्रिया-कलापों के वर्णन पढ़कर अत्यन्त प्रभावित हुए थे, तथा उनसे मिलने व वार्तालाप करने को इच्छुक थे। पेरिस मेले के समय अवसर देखकर वे स्वामीजी से मिलने को आये और क्रमशः उनके बीच घनिष्ठता स्थापित हो गयी।

पेरिस से प्रस्थान करने के कुछ ही दिनों पूर्व स्वामीजी अपनी यूरोप यात्रा के 'संस्मरण' में लिखते हैं—"पेरिस नगरी से मित्रवर मैक्सिम ने अनेक स्थानों के लिये पत्र आदि एकत्र कर दिये हैं, ताकि सभी देश ठीक तरह से देखे जा सकें। मैक्सिम प्रसिद्ध 'मैक्सिम गन' के निर्माता हैं—जिस तोप से लगातार गोले चलते रहते हैं, अपने आप ही ठस जाते हैं, आप ही छूट जाते हैं, जिसका विराम नहीं। (वे) तोपों की बातें ज्यादा करने पर चिढ़ते हैं, कहते हैं, 'क्यों महाशय, मैंने क्या इस आदमी मारनेवाले कल को छोड़कर और

कुछ भी नहीं किया है ? मैक्सिम चीन भक्त हैं, भारत भक्त हैं, धर्म व दर्शनादि के सुन्दर लेखक हैं। मेरी पुस्तकें पढ़कर बहुत दिनों से मुझ पर अनुराग रखते हैं—अतीव अनुराग। मैक्सिम राजे-रजवाड़ों को तोप बेचते हैं, सब देशों में जान-पहचान है, लेकिन उनके घनिष्ठ मित्र हैं ली-हु-चांग, विशेष श्रद्धा चीन पर है, धर्मानुराग कन्फूशी मत पर है। चीनी नाम से कभी-कभी अखबारों में क्रिस्तान पादरियों के विरुद्ध लिखते हैं—वे लोग चीन क्या करने जाते हैं, क्यों जाते हैं ? इत्यादि; मैक्सिम पादरियों का चीन में धर्म-प्रचार बिल्कुल भी नहीं सह सकते। मैक्सिम की गृहिणी भी ठीक वैसी ही है, चीन-भक्त और क्रिस्तानों से घृणा करने वाली, लड़के-बच्चे नहीं हैं, वृद्ध आदमी हैं, धन अथाह है।"[1]

फिर २२ अक्तूबर को स्वामीजी ने इस प्रसंग में श्रीमती ओलीबुल को एक पत्र में लिखा—"बन्दूक के लिए प्रसिद्ध मि० मैक्सिम की मेरे प्रति काफी रुचि है और वे चीन तथा चीनियों के बारे में अपनी पुस्तक में मेरे अमेरिकी कार्य के बारे में भी कुछ लिखना चाहते हैं। मेरे पास इस समय कोई तथ्य व कागजात नहीं हैं, यदि आपके पास हों, तो कृपया उन्हें दे दें। वे आपसे मिलने तथा इस विषय पर चर्चा करने को आयेंगे।"[2]

मि० मैक्सिम ने इस प्रकार तथ्य संग्रह कर अपनी पुस्तक में सम्मिलित किया था, पर वह पुस्तक काफी दिनों बाद प्रकाशित हुई। १९१३ ई० में लन्दन से छपी अपनी 'ली-हु-चांग स्क्रैप बुक' की भूमिका में उन्होंने स्वामीजी की शिकागो धर्म-सभा में उपस्थिति तथा उनके प्रचार-कार्य के प्रभाव का बड़ा ही सजीव वर्णन किया था। वे लिखते हैं—"कुछ ही वर्षों पूर्व शिकागो में एक धर्म-सभा हुई थी। बहुत से लोगों का मत था कि ऐसी चीज असम्भव है, क्योंकि जहाँ पर सभी पक्ष अपने को सत्य तथा औरों को पूर्णतया गलत मानते हैं, वहाँ मेल-मिलाप होना भला कैसे सम्भव है। तथापि इस धर्म-सभा ने अमेरिकी जनता का दस लाख डालर से भी अधिक धन तथा विदेश जानेवाले बहुत से लोगों का जीवन भी बचा दिया, और यह सबकुछ सम्पन्न हुआ है सिर्फ एक साहसी व सच्चे व्यक्ति के द्वारा। शिकागो में आयोजित धर्म महासभा की जब कलकत्ते (?)* में घोषणा हुई तो वहाँ के कुछ धनी व्यापारियों* (?) ने अमेरिकनों पर विश्वास करके वहाँ विश्व के प्राचीनतम संघ के एक संन्यासी विवेकानन्द को भेजा। उन संन्यासी का व्यक्तित्व प्रभावशाली था, पाण्डित्य गहन तथा आंग्ल भाषा पर अधिकार वेब्सटर के समान था। (धर्म-सभा में) अमेरिकी प्रोटेस्टेन्टों की संख्या दूसरों की तुलना में काफी अधिक थी, और उन लोगों ने इस मनोभाव के साथ कि, 'देखो हमलोग तुम्हें कैसे नेस्तनाबूद करते हैं'—सोचा था कि बाजी बड़ी आसानी से उन्हीं के हाथ लगेगी। अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ उन्होंने (सभा की) कार्यवाही प्रारम्भ की, परन्तु उनलोगों के कथन में वही पुराना घिसा-पिटा राग अलापा गया था, जो कि नोवा स्कोटिया से कैलीफोर्निया तक की सभी छोटी-मोटी बस्तियों तक में बारम्बार दुहराया जा चुका था। अतः वह किसी का भी ध्यान न आकर्षित कर सका, किसी को भी उसमें रुचि न थी। परन्तु जब विवेकानन्द ने बोलना शुरू किया तो उन्हें लगा कि (मानों) उनको एक नेपोलियन का सामना करना पड़ेगा। उनका पहला व्याख्यान ही एक 'दिव्य रहस्योद्घाटन' (revelation) से कम न था। संवाददाताओं ने अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक उसका एक-एक शब्द नोट किया और तार द्वारा पूरे देश में प्रेषित कर दिया और इस प्रकार यह हजारों समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ। विवेकानन्द उस काल के सिंह हुए। शीघ्र ही बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गये। उनके व्याख्यानों के लिए आनेवाले श्रोतागण किसी भी हॉल में न समा पाते थे। अब तक वे लोग एशिया के तथाकथित दरिद्र व तमसाच्छन्न गैर-ईसाइयों को धर्मान्तरित करने के लिये व्यर्थ की

*असल में मद्रास के नवयुवकों ने उन्हें भेजा था।

औरतें, अर्ध-शिक्षित मूर्ख आदमी तथा करोड़ों डालर भेजते रहे हैं; और आज उन्हें मिला है उन पतित लोगों का एक नमूना, जिसके धर्म व दर्शन का ज्ञान उस देश के सभी लोगों तथा मिशनरियों से भी अधिक था। यह प्रथम अवसर था, जबकि धर्म उन्हें रुचिकर प्रतीत हुआ था। उन लोगों को इसमें इतना कुछ मिला, जितना वे सपनों में भी न सोच सकते थे, (उनके साथ) तर्क करना असम्भव था। वे लोगों के साथ ऐसे ही खेलने लगे जैसें बिल्ली चूहों के साथ खेला करती है। वे लोग अत्यन्त आतंकित हो गये, पर वे भला कर भी क्या सकते थे? उन्होंने वही किया, जो उनकी सदा से रीति रही है— उनलोगों ने उन्हें शैतान का प्रतिनिधि करार दिया। परन्तु उनका (स्वामीजी का) काम तो पूरा हो चुका था, बीज बोया जा चुका था और अमेरिकी जनता अब विचार करने लगी थी। उन्होंने सोचा, 'इस व्यक्ति के समान लोगों को शिक्षा देने के लिये ऐसे मिशनरियों को भेजना, जो इनकी तुलना में धर्म का क ख ग तक नहीं जानते! हम अपना धन क्यों बरबाद करें? नहीं!' और इसका फल यह हुआ कि मिशनरी लोगों की वार्षिक आय में १० लाख डालर से भी अधिक गिरावट आ गई।"[8] इस विवरण को पढ़कर यह समझ लेना अनुचित होगा कि स्वामीजी ईसाई मिशनरियों से युद्ध करने को अमेरिका गये थे। उन्होंने उन्हें भारत त्यागने को भी नहीं कहा, पर सिर्फ इतना ही कहा कि वे लोग अमेरिका में भारत के बारे में अपना झूठा प्रचार बन्द कर दें तथा ईसा मसीह के उपदेशों का पालन करते हुए, अपनी धर्मान्धता को त्यागकर भारतवर्ष की सच्ची सेवा करें।

X X X X

मि० मैक्सिम द्वारा लाये हुए परिचय पत्रों की सहायता से स्वामीजी वियना तथा कुस्तुनतुनिया में कई विशिष्ट लोगों से मिल सके थे तथा इससे उनके कार्य में सहायता भी हुई थी। सम्भवतः मैक्सिम ने स्वामीजी के समक्ष चीन जाने का भी प्रस्ताव रखा था। परवर्ती काल में १९०१ ई० के जून में जब स्वामीजी को जापान से श्री ओकाकुरा का निमन्त्रण मिला था, उस समय उन्होंने सोचा था कि यदि उनका जापान जाना हुआ तो वे मैक्सिम दम्पत्ति से पत्र लेकर चीन भी जायेंगे और वहाँ उनके श्रद्धाभाजन ली हुंग चांग से मिलकर चर्चा भी करेंगे[1]। परन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण स्वामीजी ने जापान यात्रा का अपना कार्यक्रम रद्द कर दिया था।

सर हिरेम मैक्सिम स्वामीजी के अनेक वैज्ञानिक तथा आविष्कारक मित्रों में से एक थे। उनका एशिया तथा उसकी सभ्यता, संस्कृति से विशेष लगाव था। स्वामीजी के अमेरिकी कार्य के बारे में उनका विवरण पढ़कर हम सहज ही यह अनुमान लगा सकते हैं कि उन्हें 'तूफानी-हिन्दू' की आख्या क्यों दी गई थी।

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८ (पृ० २०४-५)
२. Prabuddha Bharat, 1977, (P. 94)
३. Marie Louise Burk, Swami Vivekananda in the West, Vol I (pp. 138-40).
४. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, (पृ० ३७६)

स्वामी प्रेमानन्दजी के सान्निध्य में

—स्वामी ओंकारेश्वरानन्द
अनु०— ब्रह्मचारी सत्यचैतन्य
रामकृष्ण मठ, नागपुर

प्रथम सर्ग

त्याग में ही परम शान्ति है।

(१)

'अनुभूति विना मूढ वृथा ब्रह्मणि मोदते।
प्रतिबिम्बित-शाखाग्र-फलास्वादन मोदवत्॥'

'जगत् त्रिकाल में नहीं है'— यह कहना आसान है :

आज मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी, दि० १ दिसम्बर १९१५ ई० है। अभी कुछ ही क्षण पहले सूर्यदेव अपनी आभाराशि को समेट कर अस्त हुए हैं। बेलुड़ मठ में श्रीरामकृष्ण देव की आरती आरम्भ हुई है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'-यहाँ पुजारी हैं स्वयं देवता—भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग, प्रधान शिष्य, नित्यसिद्ध, ईश्वरकोटि, त्याग, प्रेम तथा आनन्द की घनीभूत मूर्ति स्वामी प्रेमानन्द। श्रीचैतन्य महाप्रभु जैसी उज्ज्वल देहकान्ति, गेरुआ वस्त्र तथा उत्तरीय पहने हुए, उनके बाये हाथ में घण्टा, दाहिने में प्रज्वलित पंच-प्रदीप और मन अन्तर्मुखी है। भक्तवृन्द गर्भ-गृह के सामने के कक्ष में खड़े हाथ जोड़कर इस देव-मानव की आरती देखते हुए अपने जीवन तथा नयन को कृतार्थ कर रहे हैं।

आरती समाप्त हुई। अब स्तव का पाठ होगा। मठ के ब्रह्मचारी तथा भक्तगण अपने-अपने स्थानों पर बैठ गए हैं। स्वामी प्रेमानन्दजी भी गर्भ-गृह के सामने के उस कक्ष में उत्तराभिमुख हो अपने निर्दिष्ट आसन पर बैठ गए। अब स्वामी 'विवेकानन्द रचित 'खण्डन भव-बन्धन जग-वन्दन वन्दि तोमाय' (हे भवबन्धन का खण्डन करनेवाले जगद्बन्ध— तुम्हें प्रणाम करता हूँ) इस स्तव का एक स्वर में गान होने लगा।

बाद में 'ॐ ह्रीं ऋतं त्वमचलो' स्तोत्र का गान समाप्त कर 'ॐ स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे, अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः। ॐ नमो भगवते श्रीरामकृष्णाय नमो नमः।' इस पंक्ति को गाकर सब ने भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया।

भादो, अगहन व कार्तिक इन महीनों में यहाँ मलेरिया का भारी प्रकोप रहता है तथा तब मठ में साधुओं की संख्या बहुत कम रहा करती है। जैसे ही ठण्डक पड़ने लगती है, विभिन्न स्थानों से साधुओं का आना चालू हो जाता है। स्वमी गिरिजानन्द, श्यामानन्द, अच्युतानन्द, ब्रह्मचारी ब्रह्मचैतन्य इत्यादि मठ के कुछ साधु उत्तरकाशी, लक्ष्मणझूला, ऋषिकेश प्रभृति स्थानों में कुछ मास साधन-भजन में बिताकर, हाल ही में कोई पहले, कोई बाद में यहाँ लौटे हैं।

शाम के करीब साढ़े सात-आठ बजे होंगे। मठ के कई साधु-ब्रह्मचारी स्तव-पाठ तथा जपध्यानादि समाप्त कर दर्शकों के विश्राम-कक्ष में (Visitors' Room) में आये। यहाँ पूजनीय बाबूराम महाराज (अर्थात् स्वामी प्रेमानन्दजी) किसी दिन शाम को सभी को साथ ले उत्साहपूर्वक भजन गाते, कभी किसी ग्रन्थ के पाठ में

लग जाते या कभी अपनी अमृतमयी वाणी से सबको मन्त्रमुग्ध कर डालते।

ऋषिकेश से लौटे हुए साधुओं की ओर इंगित कर महाराज बोलने लगे :

'तुम सब क्या ऋषिकेशी साधु बन गए ? वे लोग कहते हैं, "जगत् तो त्रिकाल में है नहीं।" वहाँ कुछ साधुओं का एक-एक गेरुआ पहन कर भिक्षा माँगते इधर-उधर घूमना और गृहस्थों को ठगने के लिए गीता और वेदान्त के कुछ श्लोक कण्ठस्थ करना यही चलता है। क्या यही साधु बनना है ? वह सब, भाई, यहाँ चलने वाला नहीं। यह ठाकुर का (श्रीरामकृष्ण का) राज्य है। उन्हें आदर्श बनाकर, त्याग, वैराग्य, प्रेम, भक्ति, विश्वास, इनकी जिससे वृद्धि हो वही करना होगा। इन सबके द्वारा जीवन गठन करना होगा, तब तो काम बनेगा। नहीं तो बस्—एक गेरुआ वस्त्र पहन कर ऋषिकेशी[1] साधुओं के समान पटर्-पटर् श्लोक रट रहे हैं—यह क्या साधु होना है ? केवल तोते के समान मुख से श्लोक रटने से कुछ होने का नहीं। जीवन चाहिए ! जीवन-ज्वलन्त जीवन । जीवन के द्वारा दिखाना चाहिए। नहीं तो चले एक गैरिक वस्त्र पहन कर श्लोक झाड़ने —छिः छिः।,

त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः

'आज कुछ भक्त पधारे थे। बात-बात में उन्होने कहा कि उनके गुरुदेव खूब गीता पढ़ने को कहते। मैंने कहा, सिर्फ पढ़कर भला क्या होगा ? गीता बनना होगा, जीवन के द्वारा उसे प्रकट करना होगा, वरना कुछ नहीं होगा। ठाकुर, कहते थे "गीता, गीता दस-बार कहने से जो होता है, वही है गीता का तात्पर्य।" अर्थात् गीता गीता-गीतागी-तागी-ताजी-त्यागी । त्यागी नहीं बनने से कुछ नहीं होगा। त्याग ही है मूलमन्त्र, और केवल त्याग में ही आएगी शान्ति—इसे छोड़ और दूसरा मार्ग नहीं है।

'तुम लोग सब गीता बन जाओ, अर्थात् ठीक-ठीक त्यागी बनो—मन के भीतर से, केवल बाहर से नहीं। त्यागी न होकर, सिर्फ गीता कण्ठस्थ करने से क्या होगा? आजकल तो हर कमरे में गीता रहती है और कई लोग पढ़ते भी हैं। किन्तु फिर भी कुछ होता नहीं क्यों ? होगा भला कैसे ? मन जो विषयों में, कामिनी-कांचन में आसक्त हुआ है ! फिर और क्या होगा ? कामिनी और कांचन इन दो दिशाओं में दो लंगर डालकर नाव खेते—रहने का फल व्यर्थ परिश्रम मात्र होगा। यदि पार जाना चाहते हो, सब दुःख दूर करना चाहते हो तो मन की आसक्ति, मन के बन्धन काट डालो।'

फिर मधुर कण्ठ से गाने लगे[2]: (भावार्थ) तारा-रूपी पार ले जानेवाली नाव घाट पर लगी हुई है। मन, यदि पार होना चाहते हो तो दौड़कर चले आओ। "तारा" नाम का पाल उठाकर नौका को द्रुत-गति से ले चलो। यदि पार जाना जाहते हो, दुःख मिटाना चाहते हो तो मन के बन्धन काट डालो। बाजार में आये हो तो बाजार करो, इधर-उधर व्यर्थ दौड़-धूप क्यों कर रहे हो ? अब संसार का समय खत्म हो रहा है, शाम हो आयी है, इस भाव-बाजार में बैठे अब क्या करोगे ? राम प्रसाद कहता है, हृदय को कसकर बांधो—अब इस बार मैं संसार के माया की डोर काटकर मुक्त हो गया हूँ।

बाबूराम महाराज : (कुछ क्षण बाद) त्याग चाहिए, तपस्या चाहिए, अनासक्ति चाहिए, तभी तो गीता का मर्मार्थ समझोगे। ठाकुर को देखो न, कैसे त्यागी थे ! पैसा छू नहीं सकते थे, हाथ टेढ़ा हो जाता था। तुम

---

१. ऋषिकेश में भी सच्चे, अनुभूति-सम्पन्न साधु अवश्य हैं—महाराज यहाँ उनके बारे में नहीं बोल रहे हैं।

२. 'तारा तरी लेगेछे घाटे' यह महाभक्त रामप्रसाद का बंगला भजन है।

उन्हें आदर्श बनाकर जीवन-गठन कर लो न ! जीवन-गठन ही तो धर्म है। वह न करने से फिर चाहे संसारी रहो या साधु बनो, जीवन व्यर्थ होगा, चक्कर लगाकर मरना ही परिणाम होगा।

यह कहकर उसी भाव में विभोर होकर गाने लगे[3]: (भावार्थ) माँ अब तू मुझे आँखें बन्द किए कोल्हू के बैल के समान और कितना घुमाएगी ? भव-रूपी वृक्ष में बान्धकर माँ तू मुझे निरन्तर हाँक रही है। बता तो तूने मुझे किस दोष के कारण इन छ: कोल्हुओं में जोत रखा है ? "माँ" यह शब्द कितना ममतामय है ! बच्चे का रुदन सुनते ही माँ उसे गोद में उठा लेती है, यह तो सारे जगत् की रीति है। तो क्या मैं जगत् के बाहर हूँ ? दुर्गा-दुर्गा कहते हुए कितने ही पापी तर गए; माँ कम-से-कम एक बार तो मेरी आँखों का आवरण उठा ले, ताकि मैं तेरे अभय पदों का दर्शन कर सकूँ। माँ कुपुत्र तो अनेक होते हैं, पर क्या कभी कुमाता भी होती है ? रामप्रसाद को इतनी ही आशा है कि अन्तकाल में तेरे चरणों में आश्रय मिले।

—×—

(२)

विगत २७ नवम्बर, शनिवार को कलकत्ता स्थित विवेकानन्द वेदान्त सोसाइटी की एक सभा में वक्तृता देने के लिए बाबूराम महाराज को निमन्त्रण मिला। पहले तो उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। इस सोसाइटी के एक सदस्य तथा श्रीरामकृष्ण भक्त कालीपद-बाबू मठ में आकर, बार-बार आग्रह कर उन्हें सभा में ले गये। कालीपद बाबू सुप्रसिद्ध श्री गंगाधर बन्द्योपाध्याय के पुत्र, तथा स्वनामधन्य श्री शंभुचन्द्र न्यायरत्न के पौत्र थे। उस दिन बाबूराम महाराज ने कलकत्ते में भाषण दिया था। आज उसी प्रसंग में बात चल रही है।

बाबूराम महाराज : वह शनिवार का दिन था; मुझे तो जाने की इच्छा नहीं थी, पर बहुत आग्रह होने के कारण गया। एक पण्डित ने बड़ा सुन्दर भाषण किया; उनकी भाषा-शैली अच्छी थी, बड़े पण्डित थे। मगर इससे क्या होगा ? मैंने अच्छी तरह बारीकी से देखा — उसकी बातें श्रोताओं के भीतर प्रविष्ट नहीं हुईं, impressive नहीं हुईं। किन्तु (सीने पर हाथ रखकर) मैं तो पण्डित नहीं हूँ। ठाकुर ने मुझसे कुछ बातें कहलवायीं और सभी कितनी उत्सुकता से, कितने मनोयोग के साथ उन्हे सुनने लगे। मैंने भी कहा, देखो, वक्तृता से कुछ होने का नहीं; जीवन के द्वारा दिखाना होगा, तभी उसका स्थायी फल होगा, समझे ?

पवित्रता ही धर्म है :

'पवित्र होना चाहिए। पवित्रता ही धर्म है। मन-मुख एक करना चाहिए। ठाकुर को देखा,—मानो, पवित्रता की जीवन्त घनीभूत मूर्ति ! एक व्यक्ति रिश्वत लेकर ऊपर की कमाई करता था। एक दिन जब उसने ठाकुर की समाधि-अवस्था में उनका चरण-स्पर्श किया तो ठाकुर आ···ऽ·· कर चीख उठे।

'समाधि-अवस्था में ठाकुर कहीं गिर न पड़ें इसलिए उन्हें पकड़ कर रखना पड़ता था। हमें भी इसलिए डर लगता था कि यदि हमारे छूने के कारण वे कहीं चिल्ला न उठें। हम गुरुभाइयों के बीच क्या ही अमानवी प्रेम रहता था ! लोग कहते कि ऐसा तो कहीं देखा नहीं; गुरुभाइयों के बीच तो परस्पर लट्ठ-बाजी ही हुआ करती है। यह तो एक नयी ही बात दीख पड़ती है। अपने भीतर भी यही अमानवी प्यार जगाओ। हमारे चले जाने के पश्चात् फिर तुम शहर-शहर में चाहे अस्पताल खोलो, वेदान्त पर व्याख्यान दो या आश्रम बनाओ— किन्तु तुम्हारे भीतर यदि पवित्रता, गहरा प्रेम-संबन्ध और सद्भाव न रहे तो इन सब से कुछ भी फल न होगा।

३. 'माँ आमाय घुराबि कतो'—रामप्रसाद का बंगला भजन।

'तुम लोग आपस में खूब प्यार रखो। तुम क्या अपने आपको कम समझते हो ? श्रीमाँ के (श्रीरामकृष्ण-देव की लीला-सह-धर्मिणी तथा भक्त-जननी श्रीसारदा देवी के) शिष्य ठाकुर के शिष्यों से क्या कम हैं? मैं बढ़ा-चढ़ा कर नहीं बोल रहा हूँ—वास्तविक बात ही कह रहा हूँ। ठाकुर के भाव, महाभाव, समाधि ये सब बाहर प्रकट होते थे; और शक्तिस्वरूपिणी माँ वह सब छिपाकर साधारण महिला की भाँति गृह-कार्यों में लगी रहती थीं। (मोतीलाल, जो बाद में स्वामी महादेवानन्द हुए, इन्हें संबोधित कर) क्यों, तू तो आज ही उन्हें गृह-कार्य में व्यस्त देखकर आया है न ?'

रासलीला सुनने का अधिकारी कौन ?

काशी में रासलीला पर प्रवचन सुना। पहले दिन बहुत अच्छा ही लगा—प्रवचनकार सुवक्ता और सुगायक थे; साथ में कुछ-कुछ पाण्डित्य भी था। द्वितीय और तृतीय दिन भी उसी रासलीला का प्रवचन सुना। सारे श्रोतागण तो किन्तु काम-कांचन में आसक्त, अपवित्र गृहस्थ लोग थे; उन्हें यदि पाऊँ तो दो बातें सुना दूँ। देखो न, अपवित्र गृही लोग रासलीला का मर्म भला क्या समझेंगे ? जो लोग पूर्णतया पवित्र हैं, वेही इसे सुनने के अधिकारी हैं; इसे सुनने पर अपवित्र व्यक्ति का अमंगल होगा। कामकांचनासक्त गृहस्थ व्यक्तियों के सामने ऐसा प्रवचन ! छिः छिः !!

तुम्हारे कन्हैया, लगता है, सारा जीवन सिर्फ हाथ में बांसुरी लिए गोपियों के साथ घिति-घिति कर नाचे थे। यही लगता है तुमलोगों का आदर्श !

'यहाँ लोगों के पेट में भोजन नहीं, पहनने को कपड़े नहीं, शरीर में बल नहीं, ब्रह्मचर्य नहीं, रोगों से जीर्ण-शीर्ण अवस्था—तिसपर हर साल पुत्रोत्पादन चल रहा है—उसमें कोई कटौती नहीं; ऐसे लोगों को रासलीला की बातें बताने के बजाय निष्काम कर्म के प्रचारक पार्थसारथी श्रीकृष्ण का वह महान् सन्देश सुनाना चाहिए—"क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ" नपुंसकता को त्याग दो, मनुष्य बनो, धरती का भोग करो। और भी उन्हें सुनाना होगा,—महावीर हनुमान का आदर्श जीवन।

'भक्त होने का क्या केवल इतना ही मतलब है कि हाथ में बांसुरी पकड़े कन्हैया का चिन्तन करना और उसका नाच देखना ? ये सब क्या ? ठाकुर को ऐसे एकांगी भाव पसन्द न थे। वे डाकू-जैसी भक्ति की बात कहा करते थे। ठाकुर की वह कहानी जानते हो न ?

'एक परम वैष्णव वृक्षों से गिरे पत्ते तथा फल खाकर जीवन-निर्वाह करते और भगवान् के स्मरण-मनन में ही काल व्यतीत किया करते थे। किन्तु उनके कमर में एक तीक्ष्ण तलवार लटकती रहती थी। एक दिन इस अहिंसक परम वैष्णव की कमर में तीक्ष्ण तलवार को देखकर नारद ऋषि ने उनसे पूछा, "महाराज, आप तो परम वैष्णव जान पड़ते हैं; कहीं प्राणी हिंसा न हो जाय इस आशंका से आप वृक्ष के पत्ते तक नहीं तोड़ते, झड़े हुए पत्ते तथा फलों को खाकर निर्वाह करते हैं, फिर आप की कमर में हिंसा का चिह्न यह तलवार क्यों लटक रही है? वैष्णव ने उत्तर दिया, "अर्जुन, प्रह्लाद और द्रौपदी इन तीनों को मारने के लिए।" अश्चर्यचिकित हो नारदजी ने पूछा, "ये तीन जन ही तो परम वैष्णव ठहरे; आप इन्हें भला क्यों मारेंगे ?"

'उन्होंने उत्तर दिया कि अर्जुन का दुःसाहस तो देखो ! जो जगत् के स्वामी हैं, उन्हें उसने सारथी बनाया ! और जिसका शरीर नवनीतकोमल है उसे उस प्रह्लाद ने अपनी तुच्छ देह की रक्षा के निमित्त अति कठिन प्रस्तर के स्तम्भ से बाहर निकलने के लिए बाध्य किया। और द्रौपदी !—जब श्रीकृष्ण आहार कर रहे थे, तब अपनी लज्जा बचाने के लिए उसने उनकी शरण ले उनके आहार में विघ्न उपस्थित किया। इसीलिए इन तीनों को मार डालूँगा।

'तुम सब "सिद्ध"[4] हो जाओ! अहंकार और अभिमान को भस्म कर दो। यहाँ (ठाकुर के आश्रय में) आने से सिद्ध—नरम बनना होगा; किन्तु असत्य या मिथ्या को काटने के हेतु सत्यरूपी तलवार भी अपने पास रखनी होगी। उस समय बहुत कठोर बनना होगा।

'चरित्र चाहिए; चरित्रगठन न होने से क्या इस जीवन में, क्या परलोक में,—कहीं भी कोई उन्नति नहीं कर पाओगे।

'देखो तो सही, ये अनार्किस्ट (विप्लवी) सब चरित्र-हीन हैं। इसी वजह से पकड़े भी जा रहे हैं, अँग्रेज्हर भी हो रहे हैं। वे वृथा शक्तिक्षय न कर यदि उसे भगवान् में लगाते तो जगत् का कितना कल्याण होता! और इस यूरोपीय युद्ध[5] में पाश्चात्य जातियाँ कितना खून बहा रही हैं और कितनी शक्ति नष्ट कर रही हैं। और तिसपर भी कहते हैं "हम सभ्य हैं"। सब, भाई, महामाया का खेल है! तुम लोग सिर्फ उनकी इस शक्ति का, इस उद्यमशीलता का अनुकरण करो और उसे भगवान् की ओर लगाओ।

'ठाकुर को भला कितने लोग समझ सके हैं? हम भी क्या अबतक पूर्णरूप से समझ पाए हैं? स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) जब अमेरिका से लौटकर आए, आलम-बाजार मठ में हमलोगों में से एक ने उन्हें पूछा, "तुमने ठाकुर को कितना समझा है?" स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "भाई, कुछ भी न समझ पाया! केवल उनका बाह्य आकार (Outline) मात्र देख रहा हूँ।"

४. बंगला भाषा में 'सिद्ध' करने का अर्थ 'उबालना' भी है। उबालने से सब्जियाँ पक कर नरम हो जाती हैं। यहाँ श्लेष अलंकार है; सिद्ध साधु का हृदय नरम हो जाता है।

५. उन दिनों प्रथम महायुद्ध चल रहा था।

नारद-भक्ति-सूत्र

—श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना।

यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्धमुन्मूलयति,
निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥४७॥

यः (जो) विविक्तस्थानं सेवते (निर्जन स्थान में वास करते हैं), यः (जो) लोकबन्धम् (लौकिक सम्बन्धों से उत्पन्न बन्धनों को) उन्मूलयति (निर्मूलकर त्याग देते हैं) [जो] निस्त्रैगुण्यो (सत्व, रजः और तमः—इन तीन गुणों से रहित) भवति (होते हैं), [जो] योगक्षेमं (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिए चेष्टा का) त्यजति (त्याग करते हैं) [वे माया के हाथों से त्राण पाते हैं ॥४७

जो निर्जन स्थान में वास करते हैं, समस्त लौकिक सम्बन्धों का त्याग करते हैं; अथवा इहलोक या परलोक

में किसी प्रकार के सुखभोग की आकांक्षा नहीं रखते, जो तीन गुणों से रहित होते हैं एवम् जो योग-क्षेम का त्याग करते हैं, वे माया के बन्धन से मुक्त होते हैं ।।४७

ज्ञान के लक्षण के वर्णन के प्रसंग में भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, "विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जन संसदि ।"—१३/१०/निर्जन स्थान में वास और लोक-संग से अ-रति—ये ज्ञान के लक्षण हैं ।

"निर्जन नहीं होने पर ईश्वर का चिन्तन नहीं होता । सोना गलाने के समय यदि कोई पाँच बार टोक-चाल करे, तो फिर ऐसा होने पर किस प्रकार गलाया जायगा ?"

"निर्जन में ईश्वर-चिन्तन करने से ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की प्राप्ति होती है । किन्तु, संसार में छोड़ देने से यह मन नीच हो जाता है । संसार में केवल कामिनी-कांचन का चिन्तन होता है । मक्खन निकालने के लिए निर्जन स्थान में दही को जमाना पड़ता है । दही को हिलाने-डुलाने से दही नहीं जमता । फिर निर्जन में बैठकर दही को मथना पड़ता है । तभी मक्खन निकाला जाता है । इसी से पहले निर्जन स्थान में साधना के द्वारा ज्ञान-भक्ति-रूपी मक्खन को प्राप्त कर लो फिर जहाँ जी चाहे रहो ।"

संसारी हो या गृही, जो भी भक्ति-लाभ करना चाहेंगे उन्हें निश्चिय ही निर्जन स्थान में रहकर भक्ति का अनुशीलन करना होगा । जो सब विषय माया का बंधन मजबूत करते हैं, उन सबके बीच निरन्तर रहने पर माया के हाथ से मुक्त नहीं हुआ जा सकता ।

"संसार में रहकर साधन करना बड़ा कठिन है । इसमें अनेक व्याघात हैं ।•••रोग, शोक, दरिद्रता— संसार में अनेक झमेले हैं ।•••तब संसारियों के लिए उपाय है, कुछ दिन निर्जन स्थान में साधन करना होगा ।•••जब निर्जन में साधन करोगे, संसार से तुरन्त छलांग लगा लोगे, वहाँ जैसे स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि कोई स्वजन नहीं रहता है । निर्जन में साधना करने के समय सोचना कि मेरा कोई नहीं है— ईश्वर ही मेरे सर्वस्व हैं ।"

'विकार-रोग हुआ है । और जिस घर में विकार का रोगी है, उस घर में ही इमली का अँचार और पानी का मटका है । स्त्रियाँ पुरुष के लिए इमली का अँचार हैं; इससे रोग दूर कैसे होगा ? अँचार का स्मरण करने से ही मुँह में पानी आ जाता है । भोग-वासना, विषय-तृष्णा बराबर ही लगी रहती हैं; ये हैं पानी का मटका । इस तृष्णा का अंत नहीं है । विकार-ग्रस्त रोगी कहता है, एक मटका जल पीऊँगा । इससे क्या विकार दूर होगा ? इसीसे निर्जन में चिकित्सा की आवश्यकता है । कुछ दिन स्थान-परिवर्त कर निर्जन में जाकर रहना होगा, जहाँ इमली का अँचार और जल का मटका नहीं हो । फिर नीरोग होकर उस घर में रहने से कोई भय नहीं है ।"

प्रेममय प्रभु के प्रेम के बन्धन में बँध जाने पर फिर भक्त को लौकिक बन्धन का त्याग करने के लिए जोर नहीं लगाना पड़ता, स्वयं बंधन का त्याग हो जाता है । अगर संसार की अनित्यता का बोध हृदय में पक्का हो जाय तो भाव के सघन होने के पहले ही लौकिक बन्धन गिर जाते हैं ।

"ईश्वर ही सत्य है, और सब अनित्य है । जीव-जगत्, घर-द्वार, बाल-बच्चे—ये सब बाजीगर के जादू हैं । बाजीगर ही सत्य है; उसके सारे खेल स्वप्न की भाँति असत्य हैं । बाजीगर लकड़ी लेकर बाजा बजाता है, और कहता है, शुरू हो जा जादू । किन्तु ढक्कन खोलकर देखो—मात्र कुछ पक्षी आकाश में उड़ गये । जन्म-मृत्यु - ये सब जादू की भाँति हैं, अभी है, अभी नहीं है । तुमलोग तो स्वयं देखते हो, संसार अनित्य है । यही उदाहरण प्रत्यक्ष ही है । कितने लोग आये-गये । कितने जन्मे, कितने मरे । संसार अभी है, अभी नहीं है । अनित्य । पानी ही सत्य है; पानी का बुलबुला अभी है, अभी नहीं है; बुलबुला जल में मिल जाता है; जिस जल से उत्पत्ति होती है, उसी जल में

लय हो जाता है। बेटा-बेटी,— जैसे एक बड़े बुलबुले के साथ पांच-छः छोटे बुलबुले। ईश्वर मानो महासमुद्र हैं, जीवगण मानो बुलबुले हैं, उन्हीं से जन्म लेकर, उन्हीं में विलीन हो जाते हैं।"

"कुछ दिनों के लिए ही संसार के इन सब के (पुत्र आदि के) साथ सम्बन्ध रहता है। मनुष्य सुख की आशा से संसार बसाता जाता है—विवाह किया, बच्चा हुआ, वही बच्चा फिर बड़ा हुआ, उसका विवाह किया—कुछ दिनों तक खूब मजे में चला। फिर इसको रोग हुआ, वह मर गया, यह अवारा निकल गया—इसी भाव के चिन्तन से वह पूर्णरूपेण अस्त-व्यस्त हो जाता है। जैसे-जैसे रस में कमी होती जाती है, वैसे-वैसे वह आर्त्तनाद करने लगता है। देखो न ! पाक के लिये बने बड़े चूल्हे में कच्ची लकड़ी का जलावन पहले खूब जलता है। उस समय उसके भीतर जो जल है उसका पता नहीं चलता। इसके बाद वह लकड़ी जितनी जलती जाती है उसका सारा रस पीछे की ओर से धक्का देकर फेन-फेन होकर निकलने लगता है, और चूँ-चाँ, फुस्-फास् कई प्रकार की आवाज होने लगती है—इसी प्रकार सांसारिक लोगों का हाल भी समझो।"

आसक्ति के रहने पर ही लोक-सम्बन्ध रहता है, और लोक-सम्बन्ध के रहने पर प्रभु-प्रेम भी नहीं होता। मायाबद्ध जीव के विभिन्न लौकिक बन्धनों का परिचय हमलोग सर्वदा और सर्वत्र इसी प्रकार पाते हैं।—

"कई लोग संध्या-वन्दन करने के समय दुनिया भर की बातें करते हैं, किन्तु बात करना अनुचित है, इसी कारण से कई प्रकार से इशारा करते हैं। फिर कोई-कोई माला जपने के समय उसके बीच ही मछली का भाव या मोल-तोल भी करते हैं। फिर अंगुली से दिखा देते हैं,—'यह मछली'। भगवान् की पूजा होगी, पूजा के सारे आयोजन हो रहे हैं—किंतु भगवान् की कोई बात नहीं, केवल संसार की बातें होती हैं। गंगा-स्नान करने आयी है—भगवान् का चिन्तन नहीं करेगी, दुनियाँ भर की बातें खड़ी कर दी। 'तुम्हारे बेटे का विवाह हुआ, कौन-कौन से गहने मिले ?' 'मेरा हरीश मुझे बड़ा प्रिय है'। विधवा फूआ कहती है—'माँ ! मेरे नहीं रहने पर दुर्गा-पूजा हो नहीं पाती।—पूजा के लिए 'श्री' भी मुझे ही बनानी पड़ती है।' देखो-देखो,—कहाँ गंगा-स्नान करने आयी है, कहाँ संसार की बातें। विश्वास नहीं है, तब भी पूजा, जप, संध्या-वंदन करती है, इससे कुछ फल नहीं मिलता।"

समस्त लौकिक बन्धनों का त्याग करने पर ही इष्ट लाभ होता है। बाधक प्रतीत होने पर माता-पिता के आदेशों का उल्लंघन—उनलोगों के सम्बन्ध का भी त्याग—करना होगा, तभी माया के बन्धन से मुक्ति की प्राप्ति होगी।

"मात्र ईश्वर के लिए माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया जा सकता है। जो माँ ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में विघ्न उपस्थित करे, वह माँ नहीं है,—वह अविद्यारूपिणी है। ईश्वर के लिए गुरुजन की बात भरत ने नहीं मानी। पिता की बातों का निषेध कर के भी प्रह्लाद ने कृष्ण का नाम लेना नहीं छोड़ा। कृष्ण दर्शन के लिए पतियों के निषेध-आदेश को गोपियों ने नहीं माना। भगवान् की प्रीति के लिए बलि ने अपने गुरु शुक्राचार्य की बात नहीं सुनी। माँ के मना करने पर भी ध्रुव तपस्या करने वन गये थे। राम को पाने के लिए विभीषण ने अपने बड़े भाई रावण की बात नहीं मानी।"

इष्ट के प्रति दृढ़ निष्ठा होने के परिणामस्वरूप 'संसार ईश्वर का है'—यह बोध यदि पक्का हो जाय तो संसार में रहने पर भी लौकिक सम्बन्ध भक्त को माया से आबद्ध नहीं कर पाता।

"ईश्वर-लाभ यदि कर सको तो फिर संसार असार है, यह बोध नहीं होगा। जिसने ईश्वर को जाना है, वह देखता है कि जीव और जगत् वही हुए हैं।

बच्चों को जब खिलाओ तब सोचो—मानो गोपाल को खिलाती हो। पिता-माता को भगवान् और भगवती के रूप में देखो और उनकी सेवा करो। भगवान् को जान लेने पर संसार बसाकर विवाहिता पत्नी के साथ प्राय: दैहिक सम्बन्ध नहीं रहता। दोनों ही व्यक्ति भक्त होकर, केवल ईश्वर की चर्चा करते हैं, ईश्वर का प्रसंग लेकर रहते हैं। सभी जीवों में वे हैं, उनकी सेवा दोनों व्यक्ति करते हैं।''

सत्व, रज: और तम:—इन्हीं तीन गुणों से संसार की सृष्टि होती है, इन्हीं तीन गुणों से जीव का सांसारिक बन्धन है। इन तीन गुणों के पार जाने पर ही प्रेमा भक्ति की प्राप्ति होती है।

गुणानेतानतीत्य त्रीनदेही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादु:खैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

गी० १४।२०

''सभी मनुष्य देखने में एक ही प्रकार के लगते हैं, किन्तु किसी में सत्वगुण, किसी में रजोगुण और किसी में तमोगुण अधिक होता है।''

''संसारी जीवों में सत्व, रज: और तम: ये तीन गुण हैं। सत्व गुणी आदमी अत्यन्त शिष्ट, शान्त, दयालु और अमायिक होता है। कर्म-व्यापार पेट पालने मात्र के लिए करता है, भोजन का विशद् आयोजन नहीं करता।... मान-सम्मान के लिए सोचता नहीं।... ईश्वर-चिन्तन, दान आदि अत्यन्त छिपकर करता है। कभी भी लोगों की खुशामद कर धन-उपार्जन नहीं करता। किसी का कुछ अनिष्ट नहीं करता। सत्वगुण की अवस्था में शोर-गुल सह्य नहीं होता। सत्वगुण के आने पर ईश्वर-लाभ में और देर नहीं होती। फिर कुछ आगे बढ़ने पर ही ईश्वर को प्राप्त करता है। अंतिम जीवन में सत्वगुण रहता है, भगवान् में मन रहता है, उनके लिए मन व्याकुल होता है, अनेक विषय-कर्मों से मन हट जाता है।'',

''रजोगुणी व्यक्ति अधिक कार्यों में जड़ीभूत होता है।...दान करता है लोगों को दिखाकर।...रजोगुण में थोड़ा पाण्डित्य दिखाने की, लेक्चर देने की इच्छा होती है।''

''तमोगुणियों के लक्षण हैं—काम, क्रोध, अधिक खाना, अधिक निद्रा, अधिक अहंकार, यही सब।''

''संसार के वन में सत्व, रज:, तम: ये तीनों गुण डाकू की भाँति जीव के तत्व-ज्ञान को हर लेते हैं। ब्रह्म-ज्ञान से सत्वगुण भी काफी दूर है। एक व्यक्ति जंगल से होकर जा रहा था। वहाँ तीन डकैतों ने आकर उसे पकड़ लिया और उसका सबकुछ लूट लिया। एक डकैत ने कहा, ''इसे मार डाला जाय।' दूसरे ने कहा, 'उसे मार डालने की जरूरत नहीं है, उसके हाथ-पैर बांधकर हमलोग छोड़ चलें।' तब उनलोगों ने वही किया। थोड़ी देर बाद एक डाकू ने वापस आकर कहा,—'आओ, तुम्हारा बन्धन खोल दूँ। तुम्हें बहुत कष्ट होता है न!' तदुपरान्त उसका बन्धन खोलकर अपने साथ उसे राह में काफी दूर तक लेता गया और सदर रास्ते में आकर उसे कहा,—'वह तुम्हारा घर दिखाई पड़ता है, अब तुम सीधे चले जाओ।' तब उस आदमी ने डाकू से कहा, 'महाशय, जब आपने मेरा इतना उपकार किया है, तब मेरे घर तक चलिए।' डाकू ने कहा,—'नहीं, मैं और आगे नहीं जाऊँगा, पुलिस पहचान लेगी।' सत्वगुण जीव को संसार-बंधन से छुड़ा देता है। सत्वगुण भी चोर है, लेकिन वह परमधाम तक जाने के मार्ग पर ला देता है। तमोगुण जीव का विनाश करना चाहता है। रजोगुण संसार में बाँध देता है, अनेक कार्यों में जड़ीभूतकर देता है, ईश्वर को भुला देता है। किन्तु सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से बचाता है। काम, क्रोध आदि तमोगुण से सत्वगुण रक्षा करता है। सत्वगुण सीढ़ी का अखिरी धाप है, इसके बाद ही छत है। मनुष्य का स्वधाम है परब्रह्म।''

गुणातीत भक्त का क्या लक्षण है?

''ईश्वर-लाभ होने पर पाँच वर्ष के बच्चे-सा स्वभाव होता है। ईश्वर स्वयं बाल-स्वभाव के हैं।''

मायामुक्त होने के लिए, तीन गुणों के पार जाने के लिए, एकमात्र उपाय है अव्यभिचारिणी भक्ति।

श्री भगवान् ने कहा है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
गी० १४।२६

'जो साधक अव्यभिचारी भक्तियोग का आश्रय ग्रहण कर मेरी सेवा करते हैं वे सभी गुणों के प्रभाव से मुक्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त करते हैं।'

किसी साधक को, जो गुणातीत हो गया है, हमलोग पहचान कैसे पायेंगे ?

प्रकाशं च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो: ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
गी०१४।२२-२५

'प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह क्रमशः सत्व, रजः और तमोगुण के कार्य हैं। इन सब के आविर्भाव होने पर जो विद्वेष नहीं प्रकट करते, 'ये सब चले जायें' कहकर जो व्यस्त नहीं हो जाते, उन्होंने तीन गुणों को अपने वश में कर लिया है। जो उदासीन की भाँति अवस्थित होकर इन्द्रिय और विषयरूप में परिणत गुणों की क्रिया द्वारा चंचल नहीं होते, अपने को उन सबसे पृथक् जानकर स्थिर रहते है, वे गुणातीत हो गये हैं। जो सुख और दुःख में समान रहते हैं, जो आत्मस्वरूप में अवस्थित हैं, मिट्टी, पत्थर और सोने में जो भेद नहीं देखते, प्रिय और अप्रिय वस्तु जिनके लिए समान है, जो धीर हैं, निन्दा या प्रशंसा से, मान और अपमान में जो विचलित नहीं होते, जो शत्रु और मित्र को समान दृष्टि से देखते हैं, फल की आकांक्षा से जो कर्म का आरंभ नहीं करते, वे गुणातीत कहे जाते हैं।'

भोग की वासना जब तक बची रहती है तबतक केवल जो नहीं है उसकी प्राप्ति एवं जो है उसकी रक्षा करने की चेष्टा की जाती है। वासना के समाप्त हो जाने पर फिर कोई गुण मन पर प्रभाव नहीं डालता। इसीसे संग्रह और संरक्षण की प्रवृत्ति भक्त हृदय को व्याकुल नहीं करती। 'मेरा' कहकर तो उनका और कोई कार्य रहता नहीं। इसीलिए, 'जो है उसकी कैसे रक्षा करूँ और जो नहीं है वह कैसे पाऊँ'—यह भावना फिर उन्हें अपने इष्ट की विस्मृति नहीं करा पाती। उनको तो अभाव का बोध ही नहीं रहता, क्योंकि उनके सारे अभावों की पूर्ति की व्यवस्था भगवान् ही करते हैं। उन्होंने अपने श्रीमुख से ही प्रतिज्ञा की है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
गी० ९।२२

'जो साधक अन्य सारे आश्रयों का परित्याग कर केवल मात्र मेरे चिन्तन और मेरी उपासना में रत रहते हैं उन नित्य युक्त व्यक्तियों की अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु के संरक्षण का भार मैं ले लेता हूँ।'

"साधुगण संचय नहीं करेंगे, ईश्वर के ऊपर सोलहों आना निर्भर रहेंगे। एक युवा संन्यासी किसी के घर भिक्षा के लिए गया था। वह आजन्म संन्यासी था। संसार के विषय में कुछ जानता नहीं था। एक युवती ने आकर उसे भिक्षा दी। उसकी छाती पर स्तन देखकर साधु ने सोचा फोड़ा हो गया है, इसी से जिज्ञासा की। बाद में घर की गृहिणी ने उसे समझा दिया—उसके पेट में बच्चा होगा, अतः ईश्वर पहले से ही स्तन में दूध देंगे, इसी से उसकी व्यवस्था उन्होंने (भगवान् ने) की है। साधु ने यह बात सुनकर अवाक् हो कहा, 'तब मैं ही क्यों भिक्षा माँगू ? मेरे खाने की भी व्यवस्था वही करेंगे।' दीपक जलने पर पतंगें का अभाव नहीं होता। हृदय में भगवान् के प्रतिष्ठित हो जाने पर सेवा करने के लिए अनेक लोग भी आ जाते हैं। लेकिन जिसे चेष्टा करने की आवश्यकता महसूस होती, उसे चेष्टा करनी ही होगी।"

संसार में रुपयों की जरूरत है, ऐसा कहकर उसके लिए विशेष नहीं सोचो। संचय के लिए इतना चिंतन मत करो। जो सच्चा भक्त है, उसके चेष्टा नहीं करने पर भी ईश्वर उसे सबकुछ जुटा देते हैं। वह उसके लिए अधिक नहीं सोचता। एक ओर से रुपया आता है। फिर दूसरी ओर खर्च हो जाता है। जितनी आय उतना व्यय। इसका नाम है यदृच्छा-लाभ—यही अच्छा है। जो रुपया-पैसा नहीं चाहता, उसके पास रुपये स्वयं आते हैं।"

(क्रमशः)

कर्मयोग पर विचार

–शितिकंठ बोधिसत्व
छपरा (बिहार)

क्रिया और कर्म में क्या अन्तर है? इस प्रश्न का एक उत्तर यह है कि क्रिया होती है और कर्म सामान्यतया किया जाता है। अर्थात् क्रिया में स्वतः होने, घटित होने या नियमतः स्वचालित होने का अर्थ व्यक्त होता है। किन्तु कर्म में कर्त्ता का संकल्प, उसकी मन-बुद्धि एवं हृदय का नियोजन रहता है। क्रिया अँग्रेजी के 'हैपनिंग्' की तरह है किन्तु कर्म 'डुइंग' और 'वर्क' या 'ऐक्टिवीटी' की तरह। शरीर में रक्त-संचालन या श्वास-क्रिया स्वतः चल रही है किन्तु स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों की विभिन्न इन्द्रियों से कर्त्ता विभिन्न प्रकार के कर्म संकल्पपूर्वक करता है। मनुष्य के अहम् भाव में उनके कर्त्ता होने का भाव निहित है। अहं-भाव और कर्त्ता-भाव प्रायः पर्यायवाची हैं। अहं-भाव रहने पर कर्त्ता-भाव का रहना अनिवार्य है। दोनों ही भाव एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

इस तरह कर्म के सम्बन्ध में चिंतन करने के क्रम में क्रिया, कर्म, कर्त्ता-भाव या अहं भाव आदि शब्द विचार-प्रक्रिया में उपस्थित होते हैं। क्रिया में स्व-चालन, स्वतः घटित होने का भाव या प्रकृतिगत, नियमबद्ध गति का संकेत है। प्रश्न उठता है कि हम जो श्राद्ध या अन्य कर्मकांडों का आयोजन करते हैं, उसे भी किस तरह 'क्रिया' की संज्ञा से अभिहित करते हैं? क्या ये कर्मकांड मन-बुद्धि के संकल्प से अनुष्ठित नहीं होते? अगर होते हैं तो, उन्हें कर्म नहीं कहकर हम 'क्रिया' शब्द से कैसे व्यक्त करते हैं? वस्तुतः ये दोनों शब्द–क्रिया एवं कर्म–एक दूसरी तरह से गहनतापूर्वक अंतर्सम्बद्ध तथा एक-दूसरे में अन्तर्व्याप्त भी जान पड़ते हैं। मुंडन, उपनयन, विवाह, श्राद्ध, पिंडदान, पूजा-अर्चना, उपासना आदि कर्मकांडों में क्रिया की पद्धति शास्त्रीय या लौकिक विधान एवं परंपराओं पर आश्रित होने के कारण संकल्प प्रधान न रहकर विधान-सापेक्ष ही रहती है। इस कारण इन कर्मकांडों में व्यक्तिगत संकल्प का उतना आश्रय नहीं रहता, जितना कर्त्ता के अन्तर एवं बाह्य करणों का निमित्त मात्र रहना होता है। विधानपूर्वक निमित्त रूप से नियोजित होने के कारण इसमें कर्त्तापन का भाव शून्यवत् ही रहता है। इस तरह ये गतिविधियाँ क्रियात्मक होती हैं। अर्थात् विधानपूर्वक अनुष्ठित होने से इसमें एक निर्वैयक्तिकता रहती है। कर्मी का कर्म निर्वैयक्तिक नहीं होता। हम कह सकते हैं कि यज्ञ में, पूजा या अनुष्ठान में भी संकल्प करने का विधान है। अतः वे भी व्यक्तिगत संकल्पों से प्रेरित होने से कर्म ही हैं, क्रिया की तरह नियमबद्ध और स्वचालित नहीं। इसका उत्तर यह है कि विधानपूर्वक किये जाने से यज्ञ-पूजा के संकल्पों में क्रमशः निर्वैयक्तिक तत्त्व व्यक्त होने लगता है। अहम् भाव तिरोहित होकर शुद्ध, सूक्ष्म तथा अभिमान रहित होता है। यज्ञ-पूजा संकल्पानुष्ठित होकर भी क्रमशः निस्संकल्प भूमि की ओर ले चलने में उपयोगी हैं। कर्त्ता पुरुष में क्रमशः कर्त्ता भाव का तिरोधान या निमित्तमात्र होने का संस्कार प्रकट होता है। यह अहं-भाव का शुद्धिकरण है, विनाश नहीं; पवित्रीकरण है, प्रशिक्षण मात्र नहीं। इस अर्थ में यज्ञ-कर्म संकल्पित होकर भी क्रमशः चित्तशोधन करते हुए कर्म को क्रिया की सहज गति की ओर ले जानेवाले हैं। यज्ञ-पूजा, उपासना—कर्मकांडादि विधिवत् अनुष्ठित होने से संकल्पों की ओर सदैव उन्मुख रहनेवाले देह-मन को क्रमशः शुद्ध एवं पवित्र बनाने में उपयोगी हैं। ये सब इस प्रकार के साधन हैं जिनमें घोर कर्मी को भी कर्म-योग की ओर गतिशील होने का अवसर प्राप्त होता है। इस तरह 'रिचुअल' या कर्मकांड भी कर्मी को कर्मयोगी बनाने में उपयोगी है। यह कर्म के क्रमशः क्रिया की सहजता और निरहंकृति में रूपांतरित होने

का पथ है। व्यक्ति के संकल्प संशोधित एवं मर्यादित होते हैं; चित्त शुद्ध तथा कर्त्ता-भाव विगलित होता है। व्यक्तित्व या अहंकृति के आकार टूटते, तिरोहित होते हैं। असंग चिदाकाश व्यक्त होता है अतर्मन में और साधक कर्म से अकर्म की यात्रा में अग्रसर होता है। यज्ञ भाव से निष्पन्न किये जानेवाले कर्म संकल्प-शोधन के अमोघ साधन हैं। अर्थात् इससे चित्त-शोधन और कर्त्ता-भाव का तिरोधान होता है। कर्म की मलिनता गलनेसे क्रिया की सहजता का उदय होता है। अथवा यों कहें कि कर्म क्रिया की तरह सहज और पवित्र होता है। कर्त्ता का चित्त शुद्ध, मन पवित्र होता है। क्रमशः शुद्ध एवं पवित्र होते हुए अहम् भाव अभिमान-रहित होकर असंग चिदाकाश की अखंड शान्ति या अनंत शक्ति से जुड़ने या युक्त होने लगता है जिसे हम कर्म-योग का प्रारंभ कह सकते हैं।

'क्रिया, शब्द का प्रयोग कभी-कभी एक विशेष प्रकार की योग की पद्धति को अभिहित करने के लिए भी होता है: इसे हम क्रिया-योग कहते हैं। यह योग-साधन की एक विशेष प्रक्रिया है, जिसमें मन की एकाग्रता तथा प्राणों के विधिवत् आश्रय के द्वारा क्रमशः कुंड-लिनी जागरण, कूटस्थ-दर्शन एवं नादानुसंधान के मार्गों से आत्मयोग की गहन अर्न्तयात्रा होती है। इसमें उप-योग के लिए अपनायी गयी क्रिया में प्राणों के नियमन की प्रधानता होने से प्राण-क्रिया एवं उसके साथ जाप के आश्रय को 'ओंकार-क्रिया' कहते हैं। अंतर्यात्रा के इस क्रम में प्राणों का सुषुम्णा में प्रवेश, उत्तरोत्तर चक्र भेदन, प्राणोत्थान, कुंडलिनी–जागरण, कूटस्थ–दर्शन, विन्दु-भेदन तथा नादानुसंधान आदि अंतर-क्रियाओं का क्रमिक उपदेश होता है। हठयोग की षडंग क्रियाएँ भी आदि से लेकर वहुत दूर या ऊपर तक भी 'ह' एवं 'ठ' अथवा चन्द्र एवं सूर्य, इड़ा और पिंगला, या प्राणापान के संयोजन द्वारा उत्तरोत्तर चक्र-भेदन करते हुए शिव-शक्ति का सम्मिलन ही घटित कराती है। तंत्र-प्रधान योग-मार्गों या अन्य अनेक मार्गों में भी बाह्य एवं आंतरिक क्रियाएँ उपयोग में लायी जाती हैं। राजयोग या पातंजल-योग के प्रशस्तपथ में भी योग के परम लक्ष्य, स्वरूपावस्थिति, के लिए चित्तवृत्ति निरोध की गहन यात्रा में यम, नियम से लेकर प्रत्याहार-धारणा तथा ध्यान की पूर्वावस्था तक भी अन्तर एवं बाह्य क्रिया के विभिन्न क्रमों की व्यवस्था दी गयी है। भक्ति, उपासना एवं अन्य ईश्वरार्पित कर्मकांडों में प्रत्येक स्तर पर शास्त्रीय या गुरु परंपरा-गत विधि-विधान बताये गये हैं। इस तरह इन विधि-वत् क्रियाओं को हम व्यापक अर्थ में प्राण-कर्म या हठ-कर्म, अर्चा-उपासना-कर्म भी कहते हैं। वस्तुतः 'कर्म' शब्द बहुत अधिक व्यापक अर्थ रखता है। 'क्रिया' उसमें निहित है। किन्तु कर्म और भी व्यञ्जित करता है: संचित, प्रारब्ध, स्थूल, सूक्ष्म अर्थों में; अतीत, वर्तमान और भविष्य आदि अर्थों में तथा भाग्य एवं नियति के अर्थ में भी इसकी सुपरिचित व्यञ्जकता भारतीय संवेदनशीलता के समक्ष स्पष्ट है। प्रसिद्ध पुस्तक 'कर्मयोग' में प्रथम शीर्षक के अंतर्गत ही इस शब्द की मीमांसा करते हुए स्वामी विवेकानन्द बताते हैं: "अपने अधिकतम व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने पर, 'कर्म' का तात्पर्य उस प्रत्येक मानसिक और शारीरिक आघात से है, जिससे आत्म की मानो अग्नि-ज्योति प्रस्फुटित हो उठती है, और जिसके द्वारा इसे निज शक्ति एवं ज्ञान का अनुसंधान होता है। इस तरह देखने पर स्पष्ट है कि हम सदैव 'कर्म' कर रहे हैं। मैं आपसे बातें कर रहा हूँ: वह कर्म है। आप ध्यान से सुन रहे हैं: यह कर्म है। हमलोग साँस लेते हैं: यह कर्म है। हम चलते हैं: यह कर्म है। जो कुछ हम शरीर या मन से करते हैं, वह सब 'कर्म' है और उसकी छाप हम पर रह जाती है।" वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म से पलायित होनेवाले अर्जुन के समक्ष कर्म की इसी विभुता को उजागर करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है:

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥ अ०-३.

इन पंक्तियों की श्रीधरी टीका का हिन्दी अनुवाद है: "कभी किसी भी काल में, किसी भी अवस्था में

क्षणमात्र के लिए भी कोई भी ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी, अकर्मकृत—कर्म किये बिना नहीं रह सकता। इसमें कारण यह है कि प्रकृतिजनित स्वाभाविक राग-द्वेषादि गुणों से अवश-परवश हुए सभी मनुष्य कर्म में लगा दिए जाते हैं।"

कर्म को इस अधिकतम व्यापक अर्थ में देखने पर स्पष्ट है कि हमारे चारों ओर कर्म हो रहा है, अहर्निश, अनुक्षण सर्वत्र—भीतर मनो में एवं बाहर जगत् में, आकाश-पाताल और सभी दिशाओं में। सर्वत्र गति है, परिवर्तन है, क्रिया या कर्म है। इसी तरह धरती पर जीनेवालों के लिए यह कर्म भूमि है। यह जगत् कुरुक्षेत्र है। मन के अंतर्जगत में उसका सूक्ष्म कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र है। मन को इस व्यापक और समग्र अर्थ में समझने पर कर्मयोग को समझने का परिप्रेक्ष्य उजागर हो जाता है। स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों, कर्मेन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रियों तथा मन-बुद्धि के आश्रय से होनेवाली कोई भी अंतर या बहिर्गति कर्म की संज्ञा से अभिहित होती है। 'कर्म' को इस व्यापक अर्थ में देखते हुए 'योग' को भी अधिकतम व्यापक रूप में ही लेना चाहिए। साधारणतः इससे जुड़ने, युक्त होने, मिलने, सम्बद्ध होने का अर्थ व्यक्त होता है। अगर दो बिन्दुओं के बीच की दूरी हो, और किसी तरह वह मिट सके तो इस दूरी मिटने को हम योग कह सकते हैं : कि उन विन्दुओं का योग हो गया, वे परस्पर जुड़ गये, सम्बद्ध हो गये। पहले हम कह चुके हैं कि यज्ञ में या पूजादि में विधिपूर्वक क्रियानुष्ठान से क्रमशः अहम् भाव अभिमान-रहित या शुद्ध होकर अखंड शान्ति या अनन्त शक्ति से युक्त होने लगता है। इस तरह संशुद्ध अहम् भाव का उस अखंड शान्ति से सम्बद्ध होना मंगलमय विधान से स्वतः होने लगता हैं : यह योग है। योग एक व्यापक साधन-तत्व है। कर्म, भक्ति, ज्ञान और राज योग के अतिरिक्त भी हम अनेक अन्य या अवांतर योगों के नाम सुनते हैं। हठ, लय, मंत्र आदि कितने नाम हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहों अध्यायों का अंत अठारह प्रकार को योग की संज्ञा से हुआ है। इस तरह योग तत्त्व व्यापक अर्थ में साधन-तत्त्व की तरह सभी पथों या आध्यात्मिक प्रक्रियाओं में अनुस्यूत है। गीता में कहा गया है :

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिक :।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन
॥४६॥(अ०-६)

अर्थात् "योगी तपस्वियों से—या कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तप में निष्ठा रखनेवाले साधकों से—श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञान-संपन्न ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ है तथा सकाम या इष्टपूर्व कर्म करनेवाले कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इसलिए (हे अर्जुन!) तू योगी हो।"

सभी प्रकार के योग-साधनों में सामान्य रूप से निहित रहने के कारण तथा इस कर्मभूमि में मनुष्य के लिए बहुविध, अनेकानेक कर्मों की अनिवार्यता के कारण भी कर्मयोग सबके लिए अनिवार्य है। यह सबके लिए सुलभता से अपनाए जाने योग्य और किसी अन्य प्रकार की योग-सिद्धि के लिए भी अनिवार्य है। इसकी इसी व्यापक प्रयोजनीयता के अनुसार बहुधा श्रीमद्भगवद्-गीता की कर्मयोग प्रधान व्याख्या ही लोकग्राह्य होती है। कर्मयोग की आवश्यकता सबको है—यह मानव-मात्र की माँग है। इसको अपनाये बिना वास्तविक जीवन का पथ उपलब्ध नहीं होता। इसकी इस व्यापक उपादेयता का कारण मूल रूप से मनुष्य की रचना ही है, जिसके अनुसार हम स्पष्ट देखते हैं कि प्रत्येक में क्रिया-शक्ति प्रकृति-प्रदत्त है। क्रिया-शक्ति प्रत्येक मनुष्य में निहित है, जिससे कर्म किया जाता है या कर्त्तव्य-पालन होता है। प्रत्येक मनुष्य में करने की शक्ति या ऊर्जा का निवास है। इस शक्ति का हम कैसा उपयोग करते है? कर्मयोग इसी शक्ति या ऊर्जा के सदुपयोग का पथ प्रशस्त करता है। इसमें बल के सदुपयोग, ऊर्जा के सम्यक् नियोजन, कर्त्तव्य-पालन में कुशलता का निर्देशन प्रदान किया जाता है। यह साधन अभ्यास के रूप में प्रारंभ होकर क्रमशः संसिद्धि की ओर गतिशील होता है। "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" (गीता अ० ३/२०) अर्थात् जनक आदि

ज्ञानी जन भी कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

योग मानव-जीवन की माँग है। कर्म जगत् रूप कर्मभूमि में अनिवार्य परिस्थिति है। कर्मयोग परिस्थिति के सदुपयोग की प्रक्रिया है। कर्त्ता की ओर से यह संकल्प का सदुपयोग या प्रत्येक परिस्थिति में प्रत्येक प्रवृति का सदुपयोग है। यह कर्मयोग विवेक के अलौकिक आलोक में निर्णीत कर्त्तव्य-पालन का अद्भुत विज्ञान है। इसमें शरीर, परिवार, समाज व जगत् के प्रति अपना ऋण चुकाने का रहस्य सूत्र है। इसमें अपने कल्याण और सुन्दर परिवेश के निर्माण की अपूर्व विधा निहित है। कर्मयोग में गुप्त है सेवा का महा-साधन जिससे त्याग रूप साधन का उदय होता है। कर्मयोग करने की शक्ति का सम्यक् उपयोग, बल का सदुपयोग, क्रमिक संकल्प शोधन, चित शुद्धि, व अखंड शान्ति के संपादन का प्रशस्त सनातन पथ है।।

(क्रमश.)

साधकों के लिए

साधना के अनिवार्य अंग

—स्वामी यतीश्वरानन्द

अनु०—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

(४) विषयासक्ति का त्याग

विषयासक्ति का त्याग किये बिना वर्षों की साधना से भी कोई प्रगति नहीं होगी। तुम उन शराबियों की कहानी जानते होगे जो बिना लंगर उठाये रातभर नाव चलाते रहे। सुबह वे उसी पुराने स्थान पर ही थे। अनासक्ति के बिना साधना इसी प्रकार व्यर्थ होती है।

संशय, ईर्ष्या, मन की चंचलता आदि ध्यान के पथ में बाधाएँ हैं। संशय सबसे बड़ी बाधा है, जिसे अवश्य दूर किया जाना चाहिए। हम में पूर्ण आस्था होनी चाहिए।

सांसारिक विषयों के कारण उत्पन्न मानसिक चंचलता भी दूर की जानी चाहिए।

स्वामी जी (विवेकानन्द जी) ने एक कविता रची है, जिसमें वे कहते हैं: "चूर-चूर हो स्वार्थ, साध, सब मान, हृदय हो महाश्मशान; नाचे उस पर श्यामा ..."। लेकिन हम अपनी वासनाओं की आहुति नहीं देना चाहते। अतः काली वहाँ प्रकट नहीं होंगी। यही कठिनाई है। वासनाएँ और भगवान् एक साथ नहीं रह सकते। हमें यह निर्णय कर लेना है कि हम भगवान को चाहते हैं या विषय-भोगों को।

कुछ लोग अपने दुःखों के लिये भगवान् को दोष देते हैं। क्या दयालु भगवान् सचमुच निर्दय हो गये हैं। नहीं! इसके विपरीत, इसका अर्थ तो यह है कि हममें ही कुछ त्रुटि है। आसक्ति रूपी लंगर उठाये बिना नाव चलाने से भला क्या लाभ? कम-से-कम ध्यान के समय तो यह लंगर उठाना परमावश्यक है। हममें संसार की किसी भी वस्तु, यहाँ तक कि स्वयं के शरीर के प्रति भी आसक्ति नहीं हो, ऐसी मनः स्थिति बनानी चाहिए। जब सभी रूप हमें परमात्म ज्योति के घनीभूत पूंजों के रूप में दिखने लगेंगे, तब 'कुछ रूप मेरे हैं, कुछ नहीं, ऐसी धारणा नहीं टिक सकेगी।'

कुछ लोग प्रश्न करते हैं, "यदि भगवान् है तो वह हमें संसार में इतना दुःख क्यों देता है?" यह प्रश्न भगवान् की गलत धारणा के कारण उठता है। यह सुख-भोग चाहने वाले हीन-बुद्धि लोगों का प्रश्न है। संसार में 'केवल-सुख' नामक कोई वस्तु नहीं है। सृजन, पालन और संहार, तीनों भगवान् की लीला है। नाश के बिना सृजन अथवा पालन संभव नहीं है। लेकिन लोग मृत्यु से भयभीत होते हैं। यदि संसार में मृत्यु हो ही नहीं, तो अवस्था भीषण हो जायेगी। संहार का अर्थ किसी वस्तु का पूर्ण नाश नहीं है, और सृजन का

अर्थ भी शून्य से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं है। लेकिन सामान्यत: लोग यह बात नहीं समझते।

(५) पवित्रता व भगवत्कृपा

जप से शरीर व मन पवित्र होते हैं। मन्त्र का जप करते समय उसके अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। ध्यान व जप साथ चलने चाहिए। सांसारिक विचारों द्वारा मन का अधिक विचलित न होना, यही मानसिक पवित्रता का अर्थ है। नैतिक आचरण से हम पवित्रता का अर्थ समझने लगते हैं। साधना से पवित्रता हममें दृढ़-प्रतिष्ठित हो जाती है। ये दोनों (नैतिक जीवन तथा आध्यात्मिक साधना) हमें लक्ष्य तक पहुँचाते हैं। हम शक्ति लाभ करते हैं, और निर्भय हो जाते हैं।

साधना हमें पवित्र बना सकती है, पर इतने से ही साक्षात्कार नहीं होता। भगवत्कृपा से ही आत्म-साक्षात्कार संभव है। दीपक जलाते ही जिस प्रकार सदियों का अन्धकार क्षणमात्र में दूर हो जाता है उसी प्रकार सारी अपवित्रता भगवत्कृपा से दूर हो जाती है। और जबतक चित्तशुद्धि नहीं होती तबतक भगवत् कृपा भी प्रकट नहीं होती। अत: हमारा प्रयत्न सदा बना रहना चाहिए। कृपा-वायु सदा बह रही है। हमारा कार्य केवल पाल तानना है। और यह पाल तानने का कार्य है प्रभु के सानिध्य तथा भगवत्-कृपा को पहचानना। सूर्य का प्रकाश सर्वत्र है, पर वह केवल स्वच्छ आईने में ही प्रतिबिम्बित होता है। जबतक सुई पर मिट्टी लगी हुई है, तबतक वह चुम्बक से आकृष्ट नहीं होगी। चुम्बकीय आकर्षण-शक्ति तो सदा विद्यमान है, फिर भी सुई उस ओर आकृष्ट नहीं होती। अत: शुद्धि आवश्यक है। भगवन्नाम का जप करने से विषय-वासना रूपी मिट्टी के धुल जाने पर सारे बन्धन खुल जायेंगे।

(६) आत्मनिरीक्षण का महत्व

एक साधना हम सभी कर सकते हैं। दिवस के अन्त में अपने मन का निरीक्षण करो। कितना समय स्वाध्याय और कर्तव्य कर्मों में व्यतीत किया और कितना समय व्यर्थ गँवाया गया ! एक साधक मनोविज्ञ होता है। वह अपने मन का अध्ययन करता है। "किसी ने मेरे बारे में कुछ कहा और मैं वही सोचता रहा।" दिवस के अन्त में आत्म-विश्लेषण करने पर हम अधिकांश यही पायेंगे।

सदा अपने मन पर नजर रखो। सारे दिन चित्त में जो वृत्तियाँ उठती हैं, उनके प्रति सजग रहो। ध्यान के समय भी यही विचार उठेंगे। अत: सदा सावधान रहो, जिससे अहंकार तथा उससे सम्बन्धित चित्त-वृत्तियाँ प्रबल न हों। शरणागति के भाव से कर्म करो। स्वामी तुरीयानन्द जी सदा "भगवच्छरणम्" दुहराते रहते थे। अर्थात् वे एकमात्र सत्ता, भगवान् को आत्म-समर्पण कर रहे हैं। संयम रखना तथा अहितकर विचारों का त्याग आवश्यक है। लेकिन वे आसानी से नहीं जाते। इनकी जड़ें अवचेतन मन में बहुत गहरी हैं। एकाग्रता पूर्वक किया गया जप तथा गहरा ध्यान इन्हें दूर कर देगा। साधना द्वारा हम नैतिकता में प्रतिष्ठित होंगे।

हम जैसे वास्तव में हैं, उससे भिन्न दिखने के प्रयास में बहुत शक्ति क्षय करते हैं। हम वास्तविकता से भिन्न दिखने के लिए 'मेक-अप' करते हैं (सजते-सँवरते हैं) गिरीश बाबू अभिनेत्रियों में मेक-अप के बाद हुए परिवर्तन को देख आश्चर्य-चकित हो जाते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि हम कुरूप दिखें। लेकिन इस विषय को अत्यधिक महत्व देना ठीक नहीं है। आत्मिक सौन्दर्य का विकास करना चाहिए।

अब्राहम लिंकन कुरूप थे। एक व्यक्ति अपनी छोटी कन्या के साथ उनसे मिलने जा रहा था। उसने अपनी कन्या को हिदायत दी कि वह प्रेसिडेंट के सामने उनके रूप के बारे में कुछ न कहे। लिंकन बालिका से सहृदयता से मिले और इसका उसपर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि वह कह उठी "पर पिताजी, वे कुरूप नहीं हैं, वे तो सुन्दर हैं।" सौन्दर्य भीतर से आना चाहिए। एक व्यक्ति ने लिंकन से कहा कि उनका चित्र सुन्दर बना है। लिंकन ने उत्तर दिया कि सुन्दरता हृदय की है, देह की नहीं।

★

राँची में श्रीरामकृष्ण का १५०वाँ जन्मोत्सव

राँची, भगवान् श्रीरामकृष्णदेव का १५०वाँ जन्म जयन्ती महोत्सव स्थानीय रामकृष्ण मिशन आश्रम में २१ फरवरी को सोल्लास अनुष्ठित हुआ। उसी दिन प्रातः ९ बजे फिरायालाल चौक से भक्तों द्वारा सुसज्जित श्रीरामकृष्णदेव के चित्र सहित एक शोभा-यात्रा निकाली गयी। पुनः २ मार्च को आश्रम-प्राङ्गण में धार्मिक-सभा का आयोजन रामकृष्ण मिशन आश्रम, नरेन्द्रपुर के सचिव स्वामी असक्तानन्दजी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। रामकृष्ण मठ, हैदराबाद के स्वामी जितात्मानन्द जी ने सभा को सम्बोधित करते हुए बताया कि श्रीरामकृष्णदेव आधुनिक विश्व की आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति के सबसे सशक्त माध्यम हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण की विलक्षण अनुभूतियों की चर्चा करते हुए उनकी ऊर्जा का उल्लेख किया। राजेन्द्र कॉलेज, छपरा के हिन्दी विभाग के रीडर डॉ० केदारनाथ लाभ ने श्रीरामकृष्णदेव के सन्देशों का आधुनिक संदर्भ में विश्लेषण करते हुए उन्हें युगावतार बताया। स्वामी असक्तानन्दजी ने श्रीरामकृष्ण के विभिन्न गुणों की चर्चा कर उन्हें जीवन में उतारने पर बल दिया।

३ मार्च को 'राष्ट्र निर्माण के लिए स्वामी विवेकानन्द के संदेशों की प्रासंगिक्ता' विषय पर बोलते हुए डॉ० केदारनाथ लाभ ने देश के समक्ष उपस्थित ज्वलंत समस्याओं का जिक्र किया तथा कहा कि जीवन-मूल्यों में गिरावट ही सारे संकटों की जड़ है जिससे राष्ट्र की आत्मा कुतरती चली जा रही है। उन्होंने कहा कि ऐसी स्थिति में यदि हमारा ध्यान राष्ट्र-निर्माण के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द के विचारों की ओर नहीं जाता तो भारत के सुधार की कोई आशा नहीं की जा सकती। डॉ० लाभ ने कहा कि देश का कल्याण तभी संभव है जब हम हर स्तर पर स्वामीजी द्वारा बताये गये 'शिव भाव से जीव की सेवा' का व्रत लेकर काम करें।

स्वामी जितात्मानन्दजी ने अपने भाषण में कहा कि स्वामीजी के दर्शन की ओर आज चीन एवं रूस जैसे साम्यवादी देश भी झुकते जा रहे हैं। उन्होंने इस वैज्ञानिक युग में स्वामी विवेकानन्द के विचारों की प्रासंगिकता बतायी तथा कहा कि आज विश्व के महान् वैज्ञानिक और विचारक भी इस बात को स्वीकार कर रहे हैं कि ब्रह्माण्ड के विषय में स्वामीजी के विचार वैज्ञानिकों के विचार की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और तर्क संगत हैं।

स्वामी असक्तानन्दजी ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति में 'नारायण' को देखकर जबतक हम विश्व कल्याण की ओर तत्पर नही होते तबतक भगवत् प्रेम की बात निरर्थक है। उन्होंने कहा कि ईश्वर सेवा हमें गाँवों से शुरू करनी होगी।

इससे पूर्व मुख्य अतिथि के रूप में छोटानागपुर प्रमंडल के आयुक्त श्री नरेन्द्रपाल सिंह ने रामकृष्ण मिशन जैसी संस्था से समाज में व्याप्त धार्मिक असहिष्णुता दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने का आग्रह किया।

इस अवसर पर स्कूलों एवं कालेजों के छात्र-छात्राओं के लिए आयोजित विभिन्न प्रतियोगिताओं के सफल प्रतियोगियों को पुरस्कार प्रदान किये गये। अंत में आश्रम के सचिव स्वामी शुद्धव्रतानन्दजी महाराज ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

४ मार्च को डोरान्डा स्थित रवीन्द्र बालिका विद्यालय एवं ५ मार्च को धुर्वा स्थित विवेकानन्द विद्या मन्दिर में भी जयन्ती का आयोजन हुआ।

★